अवधूतगीता–(१)

[भगवान् श्रीदत्तात्रेयकृत अवधूतगीता एक प्राचीन स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें प्राप्त है। आठ अध्यायोंमें विभक्त इस गीतामें अवधूत श्रीदत्तात्रेयजीने मुमुक्षुजनोंके कल्याणार्थ वेदान्तमार्गद्वारा गूढ़ ब्रह्म-ज्ञानप्राप्तिका सुन्दर विवेचन किया है। इसमें आत्माका निरूपण, निर्द्वन्द्व भाव-कथन, जीव-ब्रह्मकी एकता, प्रणवका स्वरूप, वेदान्तके महावाक्योंपर विचार, ब्रह्मकी सर्वव्यापकता, मनकी लोलुपतासे निवृत्तिका उपाय, विषय-भोगकी निन्दा एवं उसके त्यागका उपाय इत्यादि अनेक परमोपयोगी उपदेश गुम्फित हैं। विरक्त मुमुक्षुजनों एवं प्रबुद्ध विचारकोंके मध्य यह अवधूतगीता प्राचीनकालसे लोकप्रिय बनी हुई है, इसीको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

पहला अध्याय

आत्मतत्त्व एवं ब्रह्मतत्त्वका निरूपण, उनका ऐक्य तथा अनुभूति

अवधूत उवाच

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।
महद्भयपरित्राणा विप्राणामुपजायते॥ १॥

अवधूत दत्तात्रेयजी बोले—ईश्वरकी कृपासे ही श्रेष्ठ पुरुषोंको [जन्ममरण-रूपी] महान् भयसे रक्षा करनेवाली अद्वैत वासना उत्पन्न होती है॥ १॥

येनेदं पूरितं सर्वमात्मनैवात्मनात्मनि।
निराकारं कथं वन्दे ह्यभिन्नं शिवमव्ययम्॥ २॥

जिस आत्माके द्वारा निश्चय ही अपनेमें यह सम्पूर्ण जगत् परिव्याप्त हो रहा है, उस निराकार आत्मतत्त्वकी वन्दना मैं किस प्रकार करूँ, क्योंकि वह [जीवसे] अभिन्न, कल्याणस्वरूप तथा अविनाशी है॥ २॥

पञ्चभूतात्मकं विश्वं मरीचिजलसन्निभम्।
कस्याप्यहो नमस्कुर्यामहमेको निरञ्जनः॥ ३॥

पाँच भूतों [पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश)-से निर्मित

यह जगत् मृगतृष्णाके जलके समान [मिथ्या] है। मायामलसे रहित मैं एक हूँ तो फिर किसको नमस्कार करूँ?॥ ३॥

आत्मैव केवलं सर्वं भेदाभेदो न विद्यते।
अस्ति नास्ति कथं ब्रूयां विस्मयः प्रतिभाति मे॥ ४॥

[सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें] सब कुछ एकमात्र आत्मा ही है। इसमें भेद तथा अभेद दोनों ही नहीं है। यह है अथवा नहीं है—यह मैं कैसे कहूँ; मुझे विस्मय प्रतीत हो रहा है॥ ४॥

वेदान्तसारसर्वस्वं ज्ञानविज्ञानमेव च।
अहमात्मा निराकारः सर्वव्यापी स्वभावतः॥ ५॥

वेदान्तका सार तथा ज्ञान-विज्ञान इतना ही है कि मैं स्वभावसे ही सर्वव्यापी निराकार आत्मा (ब्रह्मतत्त्व) हूँ॥ ५॥

यो वै सर्वात्मको देवो निष्कलो गगनोपमः।
स्वभावनिर्मलः शुद्धः स एवाहं न संशयः॥ ६॥

जो सर्वरूप परमात्मा हैं, वे निश्चय ही अखण्ड, आकाशतुल्य, स्वभावसे निर्मल तथा शुद्ध हैं। मैं वही [चेतन ब्रह्म] हूँ; इसमें सन्देह नहीं है॥ ६॥

अहमेवाव्ययोऽनन्तः शुद्धविज्ञानविग्रहः।
सुखं दुःखं न जानामि कथं कस्यापि वर्तते॥ ७॥

मैं निश्चय ही नाशरहित, अनन्त तथा शुद्ध विज्ञानस्वरूप हूँ। मैं नहीं जानता कि यह सुख-दुःख किसीको भी किस प्रकार हो सकता है॥ ७॥

न मानसं कर्म शुभाशुभं मे
न कायिकं कर्म शुभाशुभं मे।
न वाचिकं कर्म शुभाशुभं मे
ज्ञानामृतं शुद्धमतीन्द्रियोऽहम्॥ ८॥

[कोई भी] मानसिक कर्म मेरे लिये शुभ अथवा अशुभ नहीं

है, कायिक कर्म मेरे लिये शुभ अथवा अशुभ नहीं है और वाचिक कर्म मेरे लिये शुभ अथवा अशुभ नहीं है। मैं तो ज्ञानामृत, शुद्ध तथा इन्द्रियातीत हूँ॥ ८॥

मनो वै गगनाकारं मनो वै सर्वतोमुखम्।
मनोऽतीतं मनः सर्वं न मनः परमार्थतः॥ ९॥

मन आकाशके आकारवाला है, मनकी गति सभी ओर है, मन सबसे परे है और मन ही सब कुछ है, किंतु परमार्थकी दृष्टिसे मन कुछ भी नहीं है॥ ९॥

अहमेकमिदं सर्वं व्योमातीतं निरन्तरम्।
पश्यामि कथमात्मानं प्रत्यक्षं वा तिरोहितम्॥ १०॥

मैं एक हूँ और यह दृश्यमान सर्वरूप भी मैं ही हूँ। मैं आकाशसे भी अतीत हूँ तथा असीम हूँ। मैं इस आत्माको प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किस प्रकार देखूँ?॥ १०॥

त्वमेवमेकं हि कथं न बुध्यसे
समं हि सर्वेषु विमृष्टमव्ययम्।
सदोदितोऽसि त्वमखण्डितः प्रभो
दिवा च नक्तं च कथं हि मन्यसे॥ ११॥

वस्तुतः तुम एक ही हो ऐसा क्यों नहीं समझते? सम्पूर्ण शरीरोंमें तुम (आत्मारूपसे) एक समान व्याप्त हो। तुम शाश्वत तथा अव्यय हो। हे प्रभो! तुम सर्वदा प्रकाशमान हो और भेदरहित हो। [निरन्तर प्रकाशमान होनेके कारण] तुम [उदयास्तरूप] दिन तथा रातको किस प्रकार मान सकते हो?॥ ११॥

आत्मानं सततं विद्धि सर्वत्रैकं निरन्तरम्।
अहं ध्याता परं ध्येयमखण्डं खण्ड्यते कथम्॥ १२॥

[हे वत्स!] आत्मा (स्वयं)-को सर्वदा सर्वत्र एक तथा अनन्त

जानो। मैं ध्यान करनेवाला हूँ तथा अन्य कोई ध्यानका विषय है—(यदि तुम ऐसा कहते हो) तो फिर उस भेदरहित आत्माको भेदयुक्त कैसे किया जा सकता है?॥ १२॥

न जातो न मृतोऽसि त्वं न ते देहः कदाचन।
सर्वं ब्रह्मेति विख्यातं ब्रवीति बहुधा श्रुतिः॥ १३॥

[हे शिष्य!] वास्तवमें तुम न तो उत्पन्न होते हो और न मरते ही हो; न तो यह देह ही कभी तुम्हारा है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है—ऐसा प्रसिद्ध है और श्रुति भी अनेक प्रकारसे ऐसा ही कहती है॥ १३॥

स बाह्याभ्यन्तरोऽसि त्वं शिवः सर्वत्र सर्वदा।
इतस्ततः कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाचवत्॥ १४॥

[हे शिष्य!] [सम्पूर्ण प्राणियोंके] बाहर तथा भीतर रहनेवाला, कल्याणस्वरूप, सर्वत्र सभी कालोंमें विद्यमान जो चेतन तत्त्व है, वह तुम ही हो। [अतः उसकी प्राप्तिके लिये] भ्रमित होकर तुम [व्यर्थ ही] पिशाचकी भाँति इधर-उधर क्यों दौड़ते हो?॥ १४॥

संयोगश्च वियोगश्च वर्तते न च ते न मे।
न त्वं नाहं जगन्नेदं सर्वमात्मैव केवलम्॥ १५॥

संयोग तथा वियोग न तुम्हारेमें है और न तो मुझमें ही है। [वस्तुतः] न तुम हो, न मैं हूँ और न तो यह जगत् ही है; केवल आत्मा ही सब कुछ है॥ १५॥

शब्दादिपञ्चकस्यास्य नैवासि त्वं न ते पुनः।
त्वमेव परमं तत्त्वमतः किं परितप्यसे॥ १६॥

शब्द आदि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) पाँच विषयोंके साथ तुम्हारा सम्बन्ध नहीं है और तुम्हारे साथ इनका भी सम्बन्ध नहीं है। तुम ही परमतत्त्व हो, अतः तुम क्यों सन्तप्त होते हो?॥ १६॥

जन्म मृत्युर्न ते चित्तं बन्धमोक्षौ शुभाशुभौ।
कथं रोदिषि रे वत्स नामरूपं न ते न मे॥ १७॥

जन्म-मृत्यु, बन्धन-मोक्ष और शुभ-अशुभ—ये तुम्हारे नहीं हैं, ये चित्तके धर्म हैं, हे वत्स! तुम क्यों रोते हो; ये नाम तथा रूप तुम्हारे भी नहीं हैं और मेरे भी नहीं हैं॥ १७॥

अहो चित्त कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाचवत्।
अभिन्नं पश्य चात्मानं रागत्यागात्सुखी भव॥ १८॥

हे चित्त! तुम भ्रमित होकर पिशाचकी भाँति क्यों दौड़ रहे हो? तुम आत्माको भेदरहित देखो और रागका त्याग करके सुखी हो जाओ॥ १८॥

त्वमेव तत्त्वं हि विकारवर्जितं
निष्कम्पमेकं हि विमोक्षविग्रहम्।
न ते च रागो ह्यथवा विरागः
कथं हि सन्तप्यसि कामकामतः॥ १९॥

तुम वास्तवमें विकारहीन, निश्चल तथा मोक्षस्वरूप [परम] तत्त्व हो। तुम्हें राग अथवा विराग भी नहीं है; तब तुम विषय-भोगोंकी कामनासे सन्तप्त क्यों होते हो?॥ १९॥

वदन्ति श्रुतयः सर्वा निर्गुणं शुद्धमव्ययम्।
अशरीरं समं तत्त्वं तन्मां विद्धि न संशयः॥ २०॥

सभी श्रुतियाँ परमतत्त्वको निर्गुण, शुद्ध, नाशरहित, शरीररहित और सबमें समरूप कहती हैं; उसे ही तुम आत्मस्वरूप जानो, इसमें सन्देह नहीं है॥ २०॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारं निरन्तरम्।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः॥ २१॥

साकार (पदार्थों)-को मिथ्या जानो और निराकारको शाश्वत समझो। इस तत्त्वोपदेशको धारण करनेसे [इस संसारमें] पुनर्जन्म नहीं होता है॥ २१॥

एकमेव समं तत्त्वं वदन्ति हि विपश्चितः।
रागत्यागात्पुनश्चित्तमेकानेकं न विद्यते॥ २२॥

विद्वज्जन एक ही आत्मतत्त्वको समरूप कहते हैं। रागका त्याग कर देनेसे पुनः चित्तमें द्वैत-अद्वैत (-का प्रपंच) नहीं रहता है॥ २२॥

अनात्मरूपं च कथं समाधि-
रात्मस्वरूपं च कथं समाधिः।
अस्तीति नास्तीति कथं समाधि-
र्मोक्षस्वरूपं यदि सर्वमेकम्॥ २३॥

अनात्मस्वरूपको समाधि कैसे हो सकती है और आत्म-स्वरूपको भी समाधिका क्या प्रयोजन है? आत्मा है अथवा आत्मा नहीं है—इन दोनों ही स्थितियोंमें समाधि सम्भव नहीं है; यदि सभी मोक्षस्वरूप और एक हैं तो समाधिकी क्या आवश्यकता है?॥ २३॥

विशुद्धोऽसि समं तत्त्वं विदेहस्त्वमजोऽव्ययः।
जानामीह न जानामीत्यात्मानं मन्यसे कथम्॥ २४॥

[हे शिष्य!] तुम विशुद्ध, समरस, देहरहित, जन्मरहित तथा अव्यय आत्मतत्त्व हो। 'इस लोकमें मैं आत्माको जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ'—ऐसा तुम क्यों मानते हो?॥ २४॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यैश्च स्वात्मा हि प्रतिपादितः।
नेति नेति श्रुतिर्ब्रूयादनृतं पाञ्चभौतिकम्॥ २५॥

'तत्त्वमसि' आदि वचनोंके द्वारा अपनी आत्माका ही प्रतिपादन किया गया है और श्रुति भी जो 'नेति-नेति' का उद्घोष करती है, उसका तात्पर्य यही है कि यह पांचभौतिक जगत् मिथ्या है॥ २५॥

आत्मन्येवात्मना सर्वं त्वया पूर्णं निरन्तरम्।
ध्याता ध्यानं न ते चित्तं निर्लज्जं ध्यायते कथम्॥ २६॥

तुम्हारे द्वारा सब कुछ आत्मामें निरन्तर आत्मासे ही पूर्ण हो रहा है। ध्यान करनेवाले तथा ध्यानकी तुम्हें आवश्यकता ही नहीं है; तो फिर यह लज्जारहित चित्त ध्यान कैसे करता है?॥ २६॥

शिवं न जानामि कथं वदामि
शिवं न जानामि कथं भजामि।
अहं शिवश्चेत्परमार्थतत्त्वं
समस्वरूपं गगनोपमं च॥ २७॥

मैं कल्याणस्वरूप ब्रह्मको नहीं जानता हूँ तो उसका वर्णन कैसे कर सकता हूँ, मैं उसे नहीं जानता हूँ तो उसका भजन कैसे कर सकता हूँ; मैं ही कल्याणस्वरूप, परमार्थस्वरूप, समस्वरूप और आकाशतुल्य ब्रह्म हूँ (तो भजन आदिकी क्या आवश्यकता?)॥ २७॥

नाहं तत्त्वं समं तत्त्वं कल्पनाहेतुवर्जितम्।
ग्राह्यग्राहकनिर्मुक्तं स्वसंवेद्यं कथं भवेत्॥ २८॥

मैं महत् आदि तत्त्व नहीं हूँ और साम्यावस्थारूप प्रकृति तत्त्व भी नहीं हूँ। मैं कल्पना तथा हेतुसे रहित हूँ और ग्राह्य-ग्राहक भावसे निर्मुक्त हूँ; ऐसी स्थितिमें स्वसंवेद्यता भी कैसे सम्भव है?॥ २८॥

अनन्तरूपं न हि वस्तु किञ्चित्
तत्त्वस्वरूपं न हि वस्तु किञ्चित्।
आत्मैकरूपं परमार्थतत्त्वं
न हिंसको वापि न चाप्यहिंसा॥ २९॥

कोई भी वस्तु अनन्तरूप नहीं है और कोई भी वस्तु तत्त्वस्वरूप नहीं है; वस्तुतः आत्मा ही एकरूप परमतत्त्वके रूपमें अधिष्ठित है। [अद्वैत भावकी स्थितिमें] न कोई हिंसक है और न अहिंसाकी ही

भावना रहती है॥ २९॥

विशुद्धोऽसि समं तत्त्वं विदेहमजमव्ययम्।
विभ्रमं कथमात्मार्थे विभ्रान्तोऽहं कथं पुनः॥ ३०॥

तुम विशुद्ध हो; देहरहित, जन्मरहित, अव्यय तथा समरस तत्त्व हो। आत्माके विषयमें तुम्हें भ्रान्ति क्यों है? तुम कैसे कह सकते हो कि मैं भ्रान्तियुक्त हूँ?॥ ३०॥

घटे भिन्ने घटाकाशं सुलीनं भेदवर्जितम्।
शिवेन मनसा शुद्धो न भेदः प्रतिभाति मे॥ ३१॥

घटके नष्ट हो जानेपर घटाकाश (घटके भीतरका आकाश) महाकाशमें पूरी तरह विलीन हो जाता है और भेदरहित हो जाता है। परमतत्त्वमें शुद्ध मनके द्वारा किसी भेदकी प्रतीति नहीं होती है॥ ३१॥

न घटो न घटाकाशो न जीवो जीवविग्रहः।
केवलं ब्रह्म संविद्धि वेद्यवेदकवर्जितम्॥ ३२॥

[उस चेतन ब्रह्ममें उपाधिरूप] घट नहीं है, घटाकाश भी नहीं है, [अन्तःकरणरूपी उपाधिके अभावसे] जीव भी नहीं है और जीवका विग्रह भी नहीं है। अतः ज्ञेय-ज्ञाताके भेदसे रहित एकमात्र उस परब्रह्मको भली-भाँति जानो॥ ३२॥

सर्वत्र सर्वदा सर्वमात्मानं सततं ध्रुवम्।
सर्वं शून्यमशून्यं च तन्मां विद्धि न संशयः॥ ३३॥

आत्माको सर्वत्र, सभी कालोंमें विद्यमान, सर्वरूप, सतत तथा शाश्वत जानो। सभी शून्य तथा अशून्य (पदार्थों)-को निस्संदेह आत्मस्वरूप समझो॥ ३३॥

वेदा न लोका न सुरा न यज्ञा
वर्णाश्रमौ नैव कुलं न जातिः।

न धूममार्गो न च दीप्तिमार्गो
ब्रह्मैकरूपं परमार्थतत्त्वम्॥ ३४॥

वस्तुतः न वेद हैं, न लोक हैं, न देवता हैं, न यज्ञ हैं, न वर्ण तथा आश्रम हैं, न कुल है, न जाति है, न धूममार्ग (दक्षिणायन) है और न दीप्तिमार्ग (उत्तरायण) है; एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थतत्त्व है॥ ३४॥

व्याप्यव्यापकनिर्मुक्तः त्वमेकः सफलो यदि।
प्रत्यक्षं चापरोक्षं च ह्यात्मानं मन्यसे कथम्॥ ३५॥

यदि तुम व्याप्य तथा व्यापक भावसे रहित, एक रूपसे (अपनेको जाननेमें सफल) हो तो तुम आत्माको प्रत्यक्ष और परोक्ष कैसे मानते हो?॥ ३५॥

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥ ३६॥

कुछ लोग अद्वैतकी इच्छा करते हैं और कुछ अन्य लोग द्वैतकी इच्छा करते हैं; वे सभी लोग द्वैताद्वैतसे रहित समतत्त्वको नहीं जानते हैं॥ ३६॥

श्वेतादिवर्णरहितं शब्दादिगुणवर्जितम्।
कथयन्ति कथं तत्त्वं मनोवाचामगोचरम्॥ ३७॥

परब्रह्म श्वेत आदि वर्णोंसे रहित है, शब्द आदि गुणोंसे रहित है और मन तथा वाणीसे परे है; तब लोग उस परब्रह्मका वर्णन कैसे करते हैं?॥ ३७॥

यदानृतमिदं सर्वं देहादि गगनोपमम्।
तदा हि ब्रह्म संवेत्ति न ते द्वैतपरम्परा॥ ३८॥

जब कोई इस सम्पूर्ण जगत्-प्रपंचको मिथ्या तथा शरीर आदिको आकाशतुल्य (मायामात्र) जान लेता है, तभी वह ब्रह्मको सम्यक् रूपसे जानता है। (इस अवस्थामें) उसे द्वैतभावना नहीं रहेगी॥ ३८॥

परेण सहजात्मापि ह्यभिन्नः प्रतिभाति मे।
व्योमाकारं तथैवैकं ध्याता ध्यानं कथं भवेत्॥ ३९॥

परब्रह्मके साथ अनादि आत्मा मुझे भेदरहित प्रतीत होता है। वह गगनाकार, व्यापक और एकरूप है। इसमें ध्याता और ध्यानका व्यवहार कैसे हो सकता है?॥ ३९॥

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।
एतत्सर्वं न मे किञ्चिद्विशुद्धोऽहमजोऽव्ययः॥ ४०॥

मैं जो कुछ करता हूँ, जो कुछ खाता हूँ, जो कुछ हवन करता हूँ और जो कुछ देता हूँ—यह सब कुछ भी नहीं है; क्योंकि मैं शुद्ध, जन्मरहित तथा अव्यय हूँ॥ ४०॥

सर्वं जगद्विद्धि निराकृतीदं
सर्वं जगद्विद्धि विकारहीनम्।
सर्वं जगद्विद्धि विशुद्धदेहं
सर्वं जगद्विद्धि शिवैकरूपम्॥ ४१॥

तुम सम्पूर्ण जगत्को आकाररहित जानो, समस्त जगत्को विकाररहित जानो, समग्र जगत्को ब्रह्मका विग्रह जानो और सम्पूर्ण जगत्को एकमात्र कल्याणस्वरूप जानो॥ ४१॥

तत्त्वं त्वं हि न सन्देहः किं जानाम्यथवा पुनः।
असंवेद्यं स्वसंवेद्यमात्मानं मन्यसे कथम्॥ ४२॥

तुम वही परमतत्त्व हो, इसमें सन्देह नहीं है। तब तुम यह क्यों सोचते हो कि मैं आत्माको जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ? जो आत्मा किसीसे भी न जाननेयोग्य है, उसे अपनेसे जाननेयोग्य कैसे मानते हो?॥ ४२॥

मायामाया कथं तात छायाछाया न विद्यते।
तत्त्वमेकमिदं सर्वं व्योमाकारं निरञ्जनम्॥ ४३॥

हे तात! अन्धकार तथा प्रकाश एक साथ विद्यमान नहीं रह सकते,

अतः ब्रह्ममें माया तथा अमाया कैसे साथ रह सकती है? यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् आकाशरूप है। मायामलसे रहित वह परमब्रह्म तुम्हीं हो॥ ४३॥

आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन।
स्वभावनिर्मलः शुद्ध इति मे निश्चिता मतिः॥ ४४॥

मैं आदि, मध्य और अन्तसे रहित हूँ; मैं कभी भी बद्ध नहीं हूँ। मैं स्वभावसे निर्मल और शुद्ध हूँ—ऐसी मेरी निश्चित बुद्धि है॥ ४४॥

महदादि जगत्सर्वं न किञ्चित्प्रतिभाति मे।
ब्रह्मैव केवलं सर्वं कथं वर्णाश्रमस्थितिः॥ ४५॥

महत् आदि तत्त्वोंसे बना यह सम्पूर्ण जगत् मुझको कुछ भी भासित नहीं होता है; यह सब केवल ब्रह्म ही है। वर्ण तथा आश्रमोंकी (पृथक्) स्थिति कैसे सिद्ध हो सकती है?॥ ४५॥

जानामि सर्वथा सर्वमहमेको निरन्तरम्।
निरालम्बमशून्यं च शून्यं व्योमादिपञ्चकम्॥ ४६॥

मैं अपनेको हर प्रकारसे एक शाश्वत, निरालम्ब तथा पूर्ण जानता हूँ। आकाश आदि पाँच भूत शून्य (अवास्तविक) हैं॥ ४६॥

न षण्ढो न पुमान्न स्त्री न बोधो नैव कल्पना।
सानन्दो वा निरानन्दमात्मानं मन्यसे कथम्॥ ४७॥

आत्मा न पुरुष है, न स्त्री है और न तो नपुंसक ही है। यह ज्ञान तथा कल्पना भी नहीं है। तुम आत्माको आनन्दयुक्त अथवा आनन्दरहित भी कैसे मानते हो?॥ ४७॥

षडङ्गयोगान्न तु नैव शुद्धं
मनोविनाशान्न तु नैव शुद्धम्।

गुरूपदेशान्न तु नैव शुद्धं
स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव शुद्धम्॥ ४८॥

षडंगयोगसे भी आत्मा शुद्ध नहीं होता, मनका नाश होनेसे भी यह शुद्ध नहीं होता और गुरुके उपदेशसे भी यह शुद्ध नहीं होता; आत्मा तो परमतत्त्व है और स्वयं शुद्ध ही है॥ ४८॥

न हि पञ्चात्मको देहो विदेहो वर्तते न हि।
आत्मैव केवलं सर्वं तुरीयं च त्रयं कथम्॥ ४९॥

आत्मा पाँच भूतोंसे निर्मित देह नहीं है और यह देहरहित भी नहीं है। वस्तुतः सम्पूर्ण जगत्–प्रपंच आत्मा ही है, (आत्मासे भिन्न कुछ नहीं है) तब तीन अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) तथा तुरीयावस्था—ये कैसे हो सकती हैं?॥ ४९॥

न बद्धो नैव मुक्तोऽहं न चाहं ब्रह्मणः पृथक्।
न कर्ता न च भोक्ताहं व्याप्यव्यापकवर्जितः॥ ५०॥

मैं (आत्मा) बद्ध नहीं हूँ, मैं मुक्त भी नहीं हूँ और ब्रह्मसे पृथक् नहीं हूँ। मैं न तो कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ। मैं तो व्याप्य तथा व्यापक भावसे रहित हूँ॥ ५०॥

यथा जलं जले न्यस्तं सलिलं भेदवर्जितम्।
प्रकृतिं पुरुषं तद्वदभिन्नं प्रतिभाति मे॥ ५१॥

जिस प्रकार जलमें डाला गया जल समरूप (जलके रूपमें) हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृति तथा पुरुष भी मुझे अभिन्नरूप ही प्रतीत होते हैं॥ ५१॥

यदि नाम न मुक्तोऽसि न बद्धोऽसि कदाचन।
साकारं च निराकारमात्मानं मन्यसे कथम्॥ ५२॥

यदि ऐसी बात है कि तुम मुक्त नहीं हो तो तुम कभी बद्ध भी नहीं हो। फिर तुम आत्माको साकार अथवा निराकार किस प्रकार

मानते हो?॥ ५२॥

जानामि ते परं रूपं प्रत्यक्षं गगनोपमम्।
यथा परं हि रूपं यन्मरीचिजलसन्निभम्॥ ५३॥

मैं तुम्हारे परमरूपको जानता हूँ, जो प्रत्यक्ष तथा आकाशतुल्य (व्यापक) है। साथ ही तुम्हारे अपररूपको भी जानता हूँ, जो मृगतृष्णाके जलके समान है॥ ५३॥

न गुरुर्नोपदेशश्च न चोपाधिर्न मे क्रिया।
विदेहं गगनं विद्धि विशुद्धोऽहं स्वभावतः॥ ५४॥

मेरे लिये न कोई गुरु है, न उपदेश है, न उपाधि है और न तो क्रिया ही है। तुम मुझे देहरहित तथा आकाशतुल्य व्यापक जानो। मैं स्वभावसे ही पूर्णतया शुद्ध हूँ॥ ५४॥

विशुद्धोऽस्यशरीरोऽसि न ते चित्तं परात्परम्।
अहं चात्मा परं तत्त्वमिति वक्तुं न लज्जसे॥ ५५॥

तुम विशुद्ध, देहरहित हो। यह चित्त तुम्हारा नहीं है, तुम परम तत्त्व हो, अतः 'मैं आत्मा हूँ–परमतत्त्व हूँ'—ऐसा कहनेमें तुम्हें लज्जा नहीं आती॥ ५५॥

कथं रोदिषि रे चित्त ह्यात्मैवात्मात्मना भव
पिब वत्स कलातीतमद्वैतं परमामृतम्॥ ५६॥

हे चित्त! तुम रुदन क्यों करते हो, तुम आत्मा ही हो। तुम स्वयं आत्मस्वरूप हो जाओ। हे वत्स! तुम कलारहित अद्वैतरूपी परम अमृतका पान करो॥ ५६॥

नैव बोधो न चाबोधो न बोधाबोध एव च।
यस्येदृशः सदा बोधः स बोधो नान्यथा भवेत्॥ ५७॥

आत्मा न ज्ञानरूप है, न अज्ञानरूप और न तो ज्ञान-अज्ञान उभयरूप ही है। जिसे इस प्रकारका सर्वदा ज्ञान है, उसका यह ज्ञान

मिटता नहीं॥ ५७॥

ज्ञानं न तर्को न समाधियोगो
न देशकालौ न गुरूपदेशः।
स्वभावसंवित्तिरहं च तत्त्व-
माकाशकल्पं सहजं ध्रुवं च॥ ५८॥

मैं ज्ञान नहीं हूँ, तर्क नहीं हूँ, समाधियोगरूप नहीं हूँ, देश-काल नहीं हूँ और गुरुका उपदेशरूप भी नहीं हूँ। मैं स्वभावसे ही ज्ञानस्वरूप, आकाशतुल्य, सहज तथा शाश्वत परमतत्त्व हूँ॥ ५८॥

न जातोऽहं मृतो वापि न मे कर्म शुभाशुभम्।
विशुद्धं निर्गुणं ब्रह्म बन्धो मुक्तिः कथं मम॥ ५९॥

मैं न तो कभी उत्पन्न हुआ हूँ और न तो कभी मृत ही हुआ हूँ। मुझे शुभ-अशुभ कोई भी कर्म व्याप्त नहीं करता। मैं विशुद्ध तथा निर्गुण ब्रह्म हूँ तो फिर मेरा बन्धन तथा मोक्ष कैसा?॥ ५९॥

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अन्तरं हि न पश्यामि स बाह्याभ्यन्तरः कथम्॥ ६०॥

जब आत्मा सर्वव्यापी, प्रकाशमान, निश्चल, पूर्ण तथा निरन्तर है, इसलिये मुझे अन्तरकी प्रतीति नहीं होती। वह आत्मतत्त्व बाहर या भीतर कैसे (कहा जा सकता) है?॥ ६०॥

स्फुरत्येव जगत्कृत्स्नमखण्डितनिरन्तरम्।
अहो मायामहामोहौ द्वैताद्वैतविकल्पना॥ ६१॥

[परब्रह्ममें ही] सम्पूर्ण जगत् अखण्डित तथा सतत रूपमें स्फुरित हो रहा है। आश्चर्य है कि माया, महामोह और द्वैत-अद्वैतकी कल्पना—ये सब भी उसीमें स्फुरित हो रहे हैं॥ ६१॥

साकारं च निराकारं नेति नेतीति सर्वदा।
भेदाभेदविनिर्मुक्तो वर्तते केवलः शिवः॥ ६२॥

स्थूल तथा सूक्ष्म जो भी सम्पूर्ण जगत् दृश्यमान है, वह नहीं है-नहीं है—ऐसा श्रुति कहती है। भेद-अभेदसे रहित तथा कल्याणस्वरूप एकमात्र आत्मतत्त्व ही सर्वदा विद्यमान है॥ ६२॥

न ते च माता च पिता च बन्धु-
र्न ते च पत्नी न सुतश्च मित्रम्।
न पक्षपातो न विपक्षपातः
कथं हि सन्तप्तिरियं हि चित्ते॥ ६३॥

तुम्हारी न तो माता है, न कोई पिता है, न बन्धु है, न पत्नी है, न पुत्र है, न मित्र है, न पक्षपाती है और विपक्षपाती भी नहीं है; तब तुम्हारे चित्तमें यह सन्ताप कैसा?॥ ६३॥

दिवानक्तं न ते चित्ते उदयास्तमयौ न हि।
विदेहस्य शरीरत्वं कल्पयन्ति कथं बुधाः॥ ६४॥

[हे तात!] तुम्हारे (सदा प्रकाशमान) चेतनस्वरूपमें उदय तथा अस्त होनेवाले दिन तथा रात नहीं हैं। विद्वान् लोग देहरहित (आत्मतत्त्व)-के शरीरत्वकी कल्पना क्यों करते हैं?॥ ६४॥

नाविभक्तं विभक्तं च न हि दुःखसुखादि च।
न हि सर्वमसर्वं च विद्धि चात्मानमव्ययम्॥ ६५॥

आत्मा न तो विभक्त है और न अविभक्त, यह सुख-दुःखसे भी युक्त नहीं है, यह न तो पूर्ण है और न अपूर्ण; इस (द्वन्द्वरहित) शाश्वत आत्माको जानो॥ ६५॥

नाहं कर्ता न भोक्ता च न मे कर्म पुराधुना।
न मे देहो विदेहो वा निर्ममेति ममेति किम्॥ ६६॥

मैं न तो [कर्मोंका] कर्ता हूँ और न [उनके फलोंका] भोग

करनेवाला हूँ। कर्म न तो मेरे पूर्व जन्मका है और न इसी जन्मका है। मेरा देह नहीं है और मैं देहसे रहित भी नहीं हूँ। मैं ममतारहित अथवा ममतायुक्त भी कैसे हो सकता हूँ॥ ६६॥

न मे रागादिको दोषो दुःखं देहादिकं न मे।
आत्मानं विद्धि मामेकं विशालं गगनोपमम्॥ ६७॥

राग आदि दोष मेरे नहीं हैं और देह आदिसे सम्बन्धित दुःख भी मेरे नहीं हैं। मुझको एकरूप, विराट् तथा आकाशतुल्य आत्मा जानो॥ ६७॥

सखे मनः किं बहुजल्पितेन
सखे मनः सर्वमिदं वितर्क्यम्।
यत्सारभूतं कथितं मया ते
त्वमेव तत्त्वं गगनोपमोऽसि॥ ६८॥

हे मित्र मन! अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है? तुम्हें इस सब पर मनन करना चाहिये। जो सारभूत है, उसे मैंने तुमको बता दिया कि तुम वास्तवमें परमतत्त्व हो और आकाशतुल्य व्यापक हो॥ ६८॥

येन केनापि भावेन यत्र कुत्र मृता अपि।
योगिनस्तत्र लीयन्ते घटाकाशमिवाम्बरे॥ ६९॥

योगिजन जिस किसी भी भावसे तथा जहाँ कहीं भी मृत्युको प्राप्त होनेपर उसी परब्रह्ममें [वैसे ही] विलीन हो जाते हैं, जैसे [घटके टूट जानेपर] घटाकाश महाकाशमें विलीन हो जाता है॥ ६९॥

तीर्थे चान्त्यजगेहे वा नष्टस्मृतिरपि त्यजन्।
समकाले तनुं मुक्तः कैवल्यव्यापको भवेत्॥ ७०॥

तीर्थमें अथवा चाण्डालके घरमें अचेतावस्थामें भी देहका त्याग करता हुआ योगी तत्क्षण मुक्त होकर व्यापक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है॥ ७०॥

धर्मार्थकाममोक्षांश्च द्विपदादिचराचरम्।
मन्यन्ते योगिनः सर्वं मरीचिजलसन्निभम्॥ ७१॥

योगिजन धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षको तथा द्विपद आदि जंगम प्राणियों और [वृक्ष, पर्वत] आदि स्थावर पदार्थोंको मृगतृष्णाके जलके समान [मिथ्या] मानते हैं॥ ७१॥

अतीतानागतं कर्म वर्तमानं तथैव च।
न करोमि न भुञ्जामि इति मे निश्चला मतिः॥ ७२॥

मैं भूत, भविष्य तथा वर्तमान कालके कर्मोंको न तो करता हूँ और न इनके फलका भोग ही करता हूँ—इस प्रकारकी मेरी दृढ़ बुद्धि है॥ ७२॥

शून्यागारे समरसपूत-
स्तिष्ठन्नेकः सुखमवधूतः।
चरति हि नग्नस्त्यक्त्वा गर्वं
विन्दति केवलमात्मनि सर्वम्॥ ७३॥

समतारूपी रसके द्वारा पवित्र हुआ अवधूत एकान्त स्थानमें सुखपूर्वक अकेला रहता है। अभिमानका त्याग करके वह अनावृत विचरण करता है और केवल अपनेमें ही सबका अनुभव करता है॥ ७३॥

त्रितयतुरीयं नहि नहि यत्र
विन्दति केवलमात्मनि तत्र।
धर्माधर्मौ नहि नहि यत्र
बद्धो मुक्तः कथमिह तत्र॥ ७४॥

जिस जीवन्मुक्तताकी दशामें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये अवस्थाएँ नहीं रह जाती हैं, उस दशामें वह केवल अपने आत्मामें ब्रह्मानन्दको प्राप्त होता है। जिस अवस्थामें धर्म-अधर्मका भाव नहीं रहता, उस अवस्थामें बद्ध और मुक्तका भाव कैसे रह सकता है?॥ ७४॥

विन्दति विन्दति नहि नहि मन्त्रं
छन्दो लक्षणं नहि नहि तन्त्रम्।
समरसमग्नो भावितपूतः
प्रलपितमेतत्परमवधूतः ॥ ७५ ॥

आत्मरसमें मग्न तथा ध्यानके द्वारा पवित्र हुआ जीवन्मुक्त अवधूत कोई मन्त्र नहीं प्राप्त करता है और न तो किसी छन्दरूपी तन्त्रको ही प्राप्त करता है। उस (परब्रह्मको प्राप्त हुए) अवधूतने ही इस (गीता)-का कथन किया है॥ ७५ ॥

सर्वशून्यमशून्यं च सत्यासत्यं न विद्यते।
स्वभावभावतः प्रोक्तं शास्त्रसंवित्तिपूर्वकम्॥ ७६ ॥

सम्पूर्ण जगत् शून्यरूप है और अशून्यरूप भी है। (परब्रह्ममें) न तो सत्य विद्यमान है और न असत्य। अवधूतने अपने अनुभवसे तथा शास्त्रज्ञानके अनुसार इसका वर्णन किया है॥ ७६ ॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

गुणोंकी ग्राहकता, ब्रह्मका स्वरूप, ब्रह्मानुभूति-वर्णन, परमज्ञानप्रदाता गुरुकी प्रशंसा तथा आत्मतत्त्वकी विलक्षणता

अवधूत उवाच

बालस्य वा विषयभोगरतस्य वापि
मूर्खस्य सेवकजनस्य गृहस्थितस्य।
एतद् गुरोः किमपि नैव न चिन्तनीयं
रत्नं कथं त्यजति कोऽप्यशुचौ प्रविष्टम्॥ १ ॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—बालक, विषय-भोगमें लीन, मूर्ख, सेवकजन अथवा गृहस्थ—इस प्रकारके गुरुओंसे कुछ भी लाभ

नहीं होता है, ऐसा नहीं सोचना चाहिये; [उनके भी अन्दर निहित गुणोंका ग्रहण अवश्य कर लेना चाहिये।] अपवित्र स्थानमें भी पड़े हुए रत्नको कोई भी मनुष्य कैसे त्याग सकता है?॥ १॥

नैवात्र काव्यगुण एव तु चिन्तनीयो
ग्राह्यः परं गुणवता खलु सार एव।
सिन्दूरचित्ररहिता भुवि रूपशून्या
पारं न किं नयति नौरिह गन्तुकामान्॥ २॥

किसी भी गुरुमें काव्यगुण (वाक्पटुता) पर विचार नहीं करना चाहिये; गुणवान्से केवल सारवस्तुको ग्रहण कर लेना चाहिये। क्या पृथ्वीलोकमें सिन्दूरके चित्रोंसे रहित और सौन्दर्यसे शून्य नौका पार जानेकी इच्छावाले लोगोंको पार नहीं करती है?॥ २॥

प्रयत्नेन विना येन निश्चलेन चलाचलम्।
ग्रस्तं स्वभावतः शान्तं चैतन्यं गगनोपमम्॥ ३॥

बिना प्रयत्न के ही जिस ब्रह्मके द्वारा चल-अचलरूप सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह स्वभावसे ही शान्त, चैतन्य तथा आकाशतुल्य व्यापक है॥ ३॥

अयत्नाच्चालयेद्यस्तु एकमेव चराचरम्।
सर्वगं तत्कथं भिन्नमद्वैतं वर्तते मम॥ ४॥

जो व्यापक चेतन बिना प्रयासके अकेला ही चराचर जगत्को संचालित करता है, वह अद्वैत ब्रह्म मुझसे भिन्न कैसे हो सकता है?॥ ४॥

अहमेव परं यस्मात्सारासारतरं शिवम्।
गमागमविनिर्मुक्तं निर्विकल्पं निराकुलम्॥ ५॥

चूँकि मैं ही परमतत्त्व हूँ, अतः सार तथा असारसे भी परे, कल्याणस्वरूप, जन्म-मरणसे मुक्त, विकल्परहित तथा शान्त हूँ॥ ५॥

सर्वावयवनिर्मुक्तं तदहं त्रिदशार्चितम्।
सम्पूर्णत्वान्न गृह्णामि विभागं त्रिदशादिकम्॥ ६॥

वह [सच्चिदानन्दस्वरूप] मैं सभी अवयवोंसे रहित हूँ तथा

देवताओंके द्वारा पूजित हूँ। सम्यक् रूपसे पूर्ण होनेके कारण मैं देवता आदिके विभागको ग्रहण नहीं करता हूँ (अर्थात् अपनेसे भिन्न नहीं समझता) ॥ ६ ॥

प्रमादेन न सन्देहः किं करिष्यामि वृत्तिमान्।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते बुद्बुदाश्च यथा जले॥ ७॥

क्या मैं प्रमादवश अन्तःकरणकी वृत्तियोंवाला बनता हूँ (नहीं)। निःसन्देह वृत्तियाँ तो (मुझमें वैसे ही) स्वतः उत्पन्न होती हैं और पुनः विलीन हो जाती हैं; जैसे बुलबुले जलमें (सहज) उत्पन्न होते हैं और उसीमें विलीन हो जाते हैं॥ ७॥

महदादीनि भूतानि समाप्यैवं सदैव हि।
मृदुद्रव्येषु तीक्ष्णेषु गुडेषु कटुकेषु च॥ ८॥
कटुत्वं चैव शैत्यत्वं मृदुत्वं च यथा जले।
प्रकृतिः पुरुषस्तद्वदभिन्नं प्रतिभाति मे॥ ९॥

जिस प्रकार मृदु द्रव्योंमें मृदुता, तीक्ष्ण द्रव्योंमें तीक्ष्णता, गुड़ आदि मधुर द्रव्योंमें मधुरता तथा कटु द्रव्योंमें कटुत्व और जलमें शीतलता तथा मृदुत्व अपने-अपने पदार्थोंमें अभेद रूपसे विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार महत्-अहंकार आदि तत्त्वोंसे लेकर स्थूल महाभूतपर्यन्त सबका अपने कारणोंमें लय करके जो सम्पूर्ण तत्त्वोंकी कारणभूत प्रकृति है, वह भी पुरुषमें विलीन हो जाती है; अतः प्रकृति तथा पुरुष मुझे भेदरहित प्रतीत होते हैं॥ ८-९॥

सर्वाख्यारहितं यद्यत्सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं परम्।
मनोबुद्धीन्द्रियातीतमकलङ्कं जगत्पतिम्॥ १०॥
ईदृशं सहजं यत्र अहं तत्र कथं भवेत्।
त्वमेव हि कथं तत्र कथं तत्र चराचरम्॥ ११॥

वह चैतन्य ब्रह्म सम्पूर्ण संज्ञाओंसे रहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म,

अतिश्रेष्ठ, मन-बुद्धि तथा इन्द्रियोंसे अतीत, निष्कलंक तथा जगन्नियन्ता है। जिसका इस प्रकारका स्वाभाविक स्वरूप है, उसमें 'मैं' और 'तुम' का भेद कैसे सम्भव है और फिर उसमें चराचर जगत् भी कैसे सम्भव है?॥ १०-११ ॥

गगनोपमं तु यत्प्रोक्तं तदेव गगनोपमम्।
चैतन्यं दोषहीनं च सर्वज्ञं पूर्णमेव च॥ १२॥

जिसे गगनकी उपमावाला कहा गया है, वास्तवमें वही गगनके तुल्य (विराट्) है; वह चैतन्य दोषरहित, सर्वज्ञ तथा पूर्ण है॥ १२॥

पृथिव्यां चरितं नैव मारुतेन च वाहितम्।
वारिणा पिहितं नैव तेजोमध्ये व्यवस्थितम्॥ १३॥

वह चेतन ब्रह्म पृथ्वीपर नहीं चलता, वायु उसे ले नहीं जा सकता, जल उसे ढक नहीं सकता और अग्नि उसे जला नहीं सकता॥ १३॥

आकाशं तेन संव्याप्तं न तद्व्याप्तं च केनचित्।
स बाह्याभ्यन्तरं तिष्ठत्यवच्छिन्नं निरन्तरम्॥ १४॥

उस चेतन ब्रह्मके द्वारा आकाश पूर्ण रूपसे व्याप्त है; वह किसीके भी द्वारा व्याप्त नहीं है। वह बाहर-भीतर सर्वत्र विराजमान है, व्यवधानसे रहित है तथा असीम है॥ १४॥

सूक्ष्मत्वात्तददृश्यत्वान्निर्गुणत्वाच्च योगिभिः।
आलम्बनादि यत्प्रोक्तं क्रमादालम्बनं भवेत्॥ १५॥
सतताभ्यासयुक्तस्तु निरालम्बो यदा भवेत्।
तल्लयाल्लीयते चान्तर्गुणदोषविवर्जितः॥ १६॥

योगियोंके द्वारा जिस चेतन ब्रह्मका आश्रयण करना बताया गया है, उस ब्रह्मके सूक्ष्म, अदृश्य तथा निर्गुण होनेके कारण उसका आश्रयण क्रमशः होना चाहिये। जब साधक निरन्तर अभ्यासरत रहते हुए निरालम्ब हो जाता है और अन्तःकरणके गुण-दोषोंसे रहित हो जाता

है, तब उसके चित्तका लय हो जानेसे वह भी ब्रह्ममें लीन हो जाता है॥ १५–१६॥

विषविश्वस्य रौद्रस्य मोहमूर्च्छाप्रदस्य च।
एकमेव विनाशाय ह्यमोघं सहजामृतम्॥ १७॥

भयानक तथा अज्ञान एवं भ्रम प्रदान करनेवाले विषरूपी सांसारिक विषयोंके विनाशके लिये यह (ज्ञान) अमोघ तथा सहज अमृतरूप है॥ १७॥

भावगम्यं निराकारं साकारं दृष्टिगोचरम्।
भावाभावविनिर्मुक्तमन्तरालं तदुच्यते॥ १८॥

निराकारको भावगम्य, साकारको दृष्टिका विषय और जो भाव-अभावसे रहित है, उसे अन्तराल कहा जाता है॥ १८॥

बाह्यभावं भवेद्विश्वमन्तः प्रकृतिरुच्यते।
अन्तरादन्तरं ज्ञेयं नारिकेलफलाम्बुवत्॥ १९॥

बाह्य [दृश्यमान स्थूल] पदार्थोंको विश्व कहा जाता है और भीतर विद्यमान तत्त्वको प्रकृति कहा जाता है। नारिकेल फलके भीतर स्थित जलकी भाँति उस सूक्ष्म प्रकृतिके भीतर विद्यमान अतिसूक्ष्म वह ब्रह्म ही जाननेयोग्य है॥ १९॥

भ्रान्तिज्ञानं स्थितं बाह्ये सम्यग्ज्ञानं च मध्यगम्।
मध्यान्मध्यतरं ज्ञेयं नारिकेलफलाम्बुवत्॥ २०॥

बाह्य जगत्-प्रपंचमें स्थित ज्ञान भ्रान्ति ज्ञान है और भीतर स्थित ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। नारिकेलके फलके भीतर स्थित जलकी भाँति मध्यसे भी मध्यतर (अतिसूक्ष्म) ब्रह्म ही [वस्तुतः] जाननेयोग्य है॥ २०॥

पौर्णमास्यां यथा चन्द्र एक एवातिनिर्मलः।
तेन तत्सदृशं पश्येद् द्विधा दृष्टिविपर्ययः॥ २१॥

अनेनैव प्रकारेण बुद्धिभेदो न सर्वगः।
दाता च धीरतामेति गीयते नामकोटिभिः॥ २२॥

जैसे पूर्णिमाका अति निर्मल एक ही चन्द्रमा दिखायी देता है, उसी प्रकार आत्मा भी अति निर्मल तथा एक ही है; अतः आत्माको उसी चन्द्रमाके समान एकरूप देखना चाहिये। दो चन्द्रमाका दिखायी देना जैसे नेत्रदोष है, वैसे ही द्वैतभाव रखना भ्रमज्ञान है। इस पूर्वोक्त प्रकारसे ही सर्वगत चेतनके प्रति किसी भी तरह भेदकी कल्पना नहीं हो सकती है। इस ज्ञानके प्रदाता धैर्यवान् गुरुकी करोड़ों नामोंसे प्रशंसा की जाती है॥ २१-२२॥

गुरुप्रज्ञाप्रसादेन मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यस्तु सम्बुध्यते तत्त्वं विरक्तो भवसागरात्॥ २३॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः।
दृढबोधश्च धीरश्च स गच्छेत्परमं पदम्॥ २४॥

मूर्ख अथवा विद्वान्—जो कोई भी यदि गुरुकी प्रज्ञाकी कृपासे परमतत्त्वका बोध प्राप्त कर लेता है तो वह राग-द्वेषसे रहित, सभी प्राणियोंके कल्याणमें रत रहनेवाला, स्थिर ज्ञानवाला और भवसागरसे विरक्त हो जाता है तथा प्रशान्त होकर परम पदको प्राप्त करता है॥ २३-२४॥

घटे भिन्ने घटाकाश आकाशे लीयते यथा।
देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि॥ २५॥

जैसे घटका नाश होनेपर घटाकाश (घटके भीतरका आकाश) महाकाशमें विलीन हो जाता है, उसी प्रकार देहका नाश हो जानेपर (जीवन्मुक्त) योगी परमात्माके स्वरूपमें विलीन हो जाता है॥ २५॥

उक्तेयं कर्मयुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः।
न चोक्ता योगयुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः॥ २६॥

या गतिः कर्मयुक्तानां सा च वागिन्द्रियाद्वदेत्।
योगिनां या गतिः क्वापि ह्यकथ्या भवतार्जिता॥ २७॥

कर्मयुक्त मनुष्योंकी जैसी बुद्धि मरण-कालके समय होती है, उनकी वैसी ही गति कही गयी है; किंतु योगियोंकी जैसी मति अन्तकालमें होती है, उनकी वैसी गति नहीं कही गयी है (क्योंकि) कर्मयुक्त मनुष्योंकी जो गति शास्त्रोंमें उल्लिखित है, उसका कथन तो वाणीसे किया जा सकता है, किंतु योगियोंकी जो स्थिति तुमने प्राप्त कर ली है, वह वाणीसे नहीं कही जा सकती॥ २६-२७॥

एवं ज्ञात्वा त्वमुं मार्गं योगिनां नैव कल्पितम्।
विकल्पवर्जनं तेषां स्वयं सिद्धिः प्रवर्तते॥ २८॥

इस प्रकार उन योगियोंके विकल्परहित इस मार्गको जानकर (साधककी) स्वतः सिद्धि हो जाती है; यह मार्ग [कर्मियोंके मार्गकी भाँति] विकल्पयुक्त नहीं है॥ २८॥

तीर्थे वान्त्यजगेहे वा यत्र कुत्र मृतोऽपि वा।
न योगी पश्यते गर्भं परे ब्रह्मणि लीयते॥ २९॥

तीर्थमें अथवा चाण्डालके घरमें अथवा जहाँ-कहीं भी मरनेपर [जीवन्मुक्त] योगी पुनः गर्भमें नहीं जाता है; वह परब्रह्ममें लीन हो जाता है॥ २९॥

सहजमजमचिन्त्यं यस्तु पश्येत् स्वरूपं
घटति यदि यथेष्टं लिप्यते नैव दोषैः।
सकृदपि तदभावात्कर्म किञ्चिन्न कुर्यात्
तदपि न च विबद्धः संयमी वा तपस्वी॥ ३०॥

जो साधक आत्माके स्वाभाविक, अनादि तथा अचिन्त्य स्वरूपको एक बार भी देख लेता है, तब यदि वह यथेष्ट कर्म करता है तो भी दोषोंसे लिप्त नहीं होता। संयमी या तपस्वी होकर यदि वह कुछ

भी कर्म नहीं करता तो भी दोषोंका अभाव हो जानेसे वह किसीसे भी बद्ध नहीं होता॥ ३०॥

निरामयं निष्प्रतिमं निराकृतिं
निराश्रयं निर्वपुषं निराशिषम्।
निर्द्वन्द्वनिर्मोहमलुप्तशक्तिकं
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३१॥

जीवन्मुक्त योगी विकाररहित, अप्रतिम, निराकार, निरालम्ब देहरहित, इच्छारहित, द्वन्द्वरहित, मोहरहित तथा सर्वशक्तिमान् उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको प्राप्त होता है॥ ३१॥

वेदो न दीक्षा न च मुण्डनक्रिया
गुरुर्न शिष्यो न च यन्त्रसम्पदः।
मुद्रादिकं चापि न यत्र भासते
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३२॥

जहाँ वेद, मन्त्र-दीक्षा, मुण्डन-क्रिया, गुरु-शिष्य-व्यवहार, यन्त्र आदि सम्पदाएँ और मुद्रा आदिका भी आभास नहीं रह जाता, उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३२॥

न शाम्भवं शाक्तिकमानवं न वा
पिण्डं च रूपं च पदादिकं न वा।
आरम्भनिष्पत्तिघटादिकं च नो
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३३॥

जो न शम्भुसे, न शक्तिसे और न मनुसे उत्पन्न हुआ है; जो न पिण्ड है, न रूपयुक्त है और न पैर आदि इन्द्रियोंसे युक्त है और जो आरम्भ तथा निष्पत्तिसे युक्त घट आदि पदार्थ भी नहीं है, उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३३॥

यस्य स्वरूपात्सचराचरं जग-
दुत्पद्यते तिष्ठति लीयतेऽपि वा।
पयोविकारादिव फेनबुद्बुदा-
स्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३४॥

जिसके स्वरूपसे चराचर सम्पूर्ण जगत् जलके विकारसे फेन तथा बुद्बुदोंकी भाँति उत्पन्न होता है, उसीमें स्थिर रहता है और अन्तमें उसीमें विलीन हो जाता है; उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३४॥

नासानिरोधो न च दृष्टिरासनं
बोधोऽप्यबोधोऽपि न यत्र भासते।
नाडीप्रचारोऽपि न यत्र किञ्चित्
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३५॥

जिसमें प्राणायाम, दृष्टिसंयम, आसन, ज्ञान अथवा अज्ञान कुछ भी नहीं भासता और जिसमें नाड़ियोंकी गतिविधि भी नहीं है, उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३५॥

नानात्वमेकत्वमुभत्वमन्यता
अणुत्वदीर्घत्वमहत्त्वशून्यता ।
मानत्वमेयत्वसमत्ववर्जितं
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३६॥

जिसमें अनेकत्व, एकत्व, उभयत्व, अन्यताभाव, अणुत्व, दीर्घत्व, महत्त्व और शून्यता—ये सब नहीं है; जो मान, मेय और समत्वसे रहित है, उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३६॥

सुसंयमी वा यदि वा न संयमी
सुसंग्रही वा यदि वा न संग्रही।

निष्कर्मको वा यदि वा सकर्मक-
स्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३७॥

ज्ञानी साधक सम्यक् संयम करनेवाला हो अथवा संयम करनेवाला न हो; संग्रह करनेवाला हो अथवा संग्रह करनेवाला न हो; कर्मरहित हो या कर्मयुक्त हो—वह उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको प्राप्त होता है॥ ३७॥

मनो न बुद्धिर्न शरीरमिन्द्रियं
तन्मात्रभूतानि न भूतपञ्चकम्।
अहङ्कृतिश्चापि वियत्स्वरूपकं
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३८॥

जो मन नहीं है, बुद्धि नहीं है, शरीर नहीं है, इन्द्रियाँ नहीं है, तन्मात्राएँ नहीं है, पाँच महाभूत (पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश) नहीं है तथा अहंकार भी नहीं है; और जो आकाशके स्वरूपवाला है, उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३८॥

विधौ निरोधे परमात्मतां गते
न योगिनश्चेतसि भेदवर्जिते।
शौचं न वाशौचमलिङ्गभावना
सर्वं विधेयं यदि वा निषिध्यते॥ ३९॥

योगीके परमात्मभावको प्राप्त तथा भेदरहित चित्तमें विधि तथा निषेधका विचार नहीं रहता है, उनके लिये पवित्रता तथा अपवित्रताका भी भाव नहीं रहता, उनमें विशिष्ट पहचान बनानेकी भावना नहीं रहती। उनके लिये सब कुछ विधेय अथवा निषिद्ध हो जाता है॥ ३९॥

मनो वचो यत्र न शक्तमीरितुं
नूनं कथं तत्र गुरूपदेशता।

इमां कथामुक्तवतो गुरोस्त-
द्युक्तस्य तत्त्वं हि समं प्रकाशते॥ ४०॥

मन और वाणी भी जिस चेतन आत्माका वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हैं, वहाँ [शिष्यके लिये] गुरुकी उपदेशता कैसे गम्य हो सकती है! चेतन आत्माका वर्णन करनेवाले और उस आत्मामें जुड़े हुए गुरुको निश्चय ही वह आत्मतत्त्व समरूपसे प्रकाशमान रहता है॥ ४०॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तीसरा अध्याय

आत्मतत्त्वके ज्ञानरूपी अमृतत्व, समरसत्व एवं आकाश-सदृश व्यापकत्वका विवेचन, आत्मबोध तथा त्यागाभिमानके भी त्यागकी प्रेरणा

अवधूत उवाच

गुणविगुणविभागो वर्तते नैव किञ्चि-
द्रतिविरतिविहीनं निर्मलं निष्प्रपञ्चम्।
गुणविगुणविहीनं व्यापकं विश्वरूपं
कथमहमिह वन्दे व्योमरूपं शिवं वै॥ १॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—जिस चेतन आत्मामें सगुण तथा निर्गुणका कुछ भी भेद नहीं है, जो आसक्ति तथा विरक्तिसे विहीन है, निर्मल है, प्रपंचरहित है, गुण तथा विगुणसे रहित है, व्यापक है, विश्वरूप है, आकाशतुल्य व्यापक है और कल्याणस्वरूप है—उस [भेदरहित परमात्मा]-की वन्दना मैं कैसे करूँ?॥ १॥

श्वेतादिवर्णरहितो नियतं शिवश्च
कार्यं हि कारणमिदं हि परं शिवश्च।

एवं विकल्परहितोऽहमलं शिवश्च
स्वात्मानमात्मनि सुमित्र कथं नमामि॥ २॥

हे सुमित्र! मैं श्वेत आदि वर्णोंसे रहित तथा सर्वदा कल्याणस्वरूप हूँ। 'मैं कार्य हूँ' अथवा कारण हूँ, यह श्रेष्ठ है अथवा कल्याणस्वरूप है। इस प्रकारके विकल्पसे रहित हूँ और मैं पूर्ण परमात्मस्वरूप हूँ; तब मैं अपने आत्माको अपने आत्मामें किस प्रकार नमस्कार करूँ?॥ २॥

निर्मूलमूलरहितो हि सदोदितोऽहं
निर्धूमधूमरहितो हि सदोदितोऽहम्।
निर्दीपदीपरहितो हि सदोदितोऽहं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३॥

मैं अजन्मा और कारणरहित होता हुआ सदा विद्यमान हूँ। निर्धूम और मलरहित मैं बिना दीपकके स्वप्रकाशित होकर सदा विद्यमान हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३॥

निष्कामकाममिह नाम कथं वदामि
निःसङ्गसङ्गमिह नाम कथं वदामि।
निःसारसाररहितं च कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ४॥

निष्काम होकर मैं स्वयंको सकाम कैसे कहूँ, निःसंग होकर संगवाला कैसे कहूँ और निःसार (निर्गुण) होकर सारवान् कैसे कहूँ? मैं तो ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ४॥

अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि
द्वैतस्वरूपमखिलं हि कथं वदामि।
नित्यं त्वनित्यमखिलं हि कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोहऽम्॥ ५॥

मैं सम्पूर्ण प्रपंचको अद्वैतरूप कैसे कहूँ और सम्पूर्ण प्रपंचको द्वैतरूप

भी कैसे कहूँ? इसी प्रकार इसे नित्य अथवा अनित्य भी कैसे कहूँ? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ५॥

स्थूलं हि नो नहि कृशं न गतागतं हि
आद्यन्तमध्यरहितं न परापरं हि।
सत्यं वदामि खलु वै परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ६॥

आत्मा न स्थूल है, न सूक्ष्म है और न तो गमनागमनवाला ही है; यह आदि, अन्त और मध्यसे रहित है; यह पर अथवा अपर भी नहीं है। मैं सत्य कहता हूँ कि मैं परमार्थ तत्त्व-स्वरूप हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ६॥

संविद्धि सर्वकरणानि नभोनिभानि
संविद्धि सर्वविषयांश्च नभोनिभांश्च।
संविद्धि चैकममलं न हि बन्धमुक्तं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ७॥

तुम समस्त इन्द्रियोंको आकाशतुल्य शून्य जानो तथा सभी विषयोंको आकाशतुल्य शून्य जानो। आत्माको विशुद्ध जानो; यह बन्धन तथा मुक्तिसे युक्त नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ७॥

दुर्बोधबोधगहनो न भवामि तात
दुर्लक्ष्यलक्ष्यगहनो न भवामि तात।
आसन्नरूपगहनो न भवामि तात
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ८॥

हे तात! मैं दुर्बोध हूँ, किंतु अति कठिनतासे जाना जानेवाला भी नहीं हूँ, मैं दुर्लक्ष्य हूँ, किंतु कठिनाईसे दिखायी देनेवाला भी नहीं हूँ, मैं अति समीप हूँ और अपनेको छिपाता नहीं हूँ। मैं तो ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ८॥

निष्कर्मकर्मदहनो ज्वलनो भवामि
निर्दु:खदु:खदहनो ज्वलनो भवामि।
निर्देहदेहदहनो ज्वलनो भवामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ९॥

मैं कर्मरहित हूँ और कर्मोंको जलानेहेतु अग्निरूप हूँ; मैं दु:खरहित हूँ और दु:खोंको जलानेके लिये अग्निरूप हूँ; मैं देहरहित हूँ और देहाभिमानको जलानेके लिये अग्निरूप हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ९॥

निष्पापपापदहनो हि हुताशनोऽहं
निर्धर्मधर्मदहनो हि हुताशनोऽहम्।
निर्बन्धबन्धदहनो हि हुताशनोऽहं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १०॥

मैं पापसे रहित हूँ, फिर भी पापको दग्ध करनेके लिये अग्निरूप हूँ, मैं धर्मरहित हूँ फिर भी धर्मका दाह करनेहेतु अग्निरूप हूँ और मैं बन्धनरहित हूँ फिर भी बन्धनको जलानेके लिये अग्निरूप हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १०॥

निर्भावभावरहितो न भवामि वत्स
निर्योगयोगरहितो न भवामि वत्स।
निश्चित्तचित्तरहितो न भवामि वत्स
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ११॥

हे वत्स! मैं भावरहित होकर भी भावरहित नहीं हूँ, मैं योगरहित होकर भी योगरहित नहीं हूँ और चित्तसे रहित होकर भी चित्तरहित नहीं हूँ। (अर्थात मैं इनसे युक्त भी और इनसे रहित भी हूँ)। हे वत्स! मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ११॥

निर्मोहमोहपदवीति न मे विकल्पो
निःशोकशोकपदवीति न मे विकल्पः।
निर्लोभलोभपदवीति न मे विकल्पो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १२॥

मोहशून्य अथवा मोहयुक्त—इस प्रकारका विकल्प मुझमें नहीं है, शोकरहित अथवा शोकयुक्त—इस प्रकारका भी विकल्प मुझमें नहीं है और लोभरहित अथवा लोभयुक्त—इस प्रकारका भी विकल्प मुझमें नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १२॥

संसारसन्ततिलता न च मे कदाचित्
सन्तोषसन्ततिसुखं न च मे कदाचित्।
अज्ञानबन्धनमिदं न च मे कदाचित्
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १३॥

संसाररूपी प्रवाहकी निरन्तरता मुझमें कभी नहीं है, सन्तोषरूपी प्रवाहका सुख भी मुझमें कभी नहीं है और यह अज्ञानबन्धन मुझमें किंचित् भी नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १३॥

संसारसन्ततिरजो न च मे विकारः
सन्तापसन्ततितमो न च मे विकारः।
सत्त्वं स्वधर्मजनकं न च मे विकारो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १४॥

संसाररूपी प्रवाहका रजोगुण मुझे विकृत नहीं करता, संसार-परम्पराका तम (अज्ञान) भी मुझे विकृत नहीं करता और अपने धर्मका जनक सत्त्वगुण भी मुझे प्रभावित नहीं करता। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १४॥

सन्तापदुःखजनको न विधिः कदाचित्
सन्तापयोगजनितं न मनः कदाचित्।
यस्मादहङ्कृतिरियं न च मे कदाचि-
ज्ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १५॥

सन्ताप तथा दुःखको उत्पन्न करनेवाली जो विधि है, वह मेरे लिये कभी नहीं है, सन्तापके सम्बन्धसे उत्पन्न जो संकल्परूप मन है, वह भी मेरा कभी नहीं है और जो यह अहंकार है, वह भी मुझमें कभी नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १५॥

निष्कम्पकम्पनिधनं न विकल्पकल्पं
स्वप्नप्रबोधनिधनं न हिताहितं हि।
निःसारसारनिधनं न चराचरं हि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १६॥

मैं कम्परहित और कम्पयुक्त दोनोंका नाशरूप नहीं हूँ, मैं विकल्प तथा कल्परूप भी नहीं हूँ, मैं स्वप्न और जाग्रत्‌का नाशरूप भी नहीं हूँ, मैं हित तथा अहितरूप भी नहीं हूँ, मैं निःसार तथा सारका नाशरूप नहीं हूँ और मैं चर और अचररूप भी नहीं हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १६॥

नो वेद्यवेदकमिदं न च हेतुतर्क्यं
वाचामगोचरमिदं न मनो न बुद्धिः।
एवं कथं हि भवतः कथयामि तत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १७॥

यह आत्मस्वरूप चेतन ब्रह्म न ज्ञानका विषय है और न जाननेवाला ही है, यह वाणीसे अगम्य है, इसे न मन जान सकता है और न बुद्धि ही जान सकती है; इस प्रकारके आत्मतत्त्वका वर्णन मैं

आपके समक्ष कैसे करूँ? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १७॥

निर्भिन्नभिन्नरहितं परमार्थतत्त्व-
मन्तर्बहिर्न हि कथं परमार्थतत्त्वम्।
प्राक्सम्भवं न च रतं नहि वस्तु किञ्चि-
ज्ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १८॥

यह परमतत्त्व भेदाभेदसे रहित और भीतर तथा बाहरके व्यवहारसे शून्य है, पूर्वमें यह कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ, यह किसी भी पदार्थसे लिप्त नहीं है और यह कोई वस्तु भी नहीं है। [आत्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १८॥

रागादिदोषरहितं त्वहमेव तत्त्वं
दैवादिदोषरहितं त्वहमेव तत्त्वम्।
संसारशोकरहितं त्वहमेव तत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १९॥

मैं राग आदि दोषोंसे रहित आत्मतत्त्व हूँ, मैं दैव आदि दोषोंसे रहित आत्मतत्त्व हूँ और मैं सांसारिक दुःखसे रहित आत्मतत्त्व हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १९॥

स्थानत्रयं यदि च नेति कथं तुरीयं
कालत्रयं यदि च नेति कथं दिशश्च।
शान्तं पदं हि परमं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २०॥

चेतन ब्रह्ममें यदि तीन अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) नहीं हैं तो चौथी तुरीयावस्था कैसे हो सकती है? यदि उसमें तीनों काल नहीं है तो दिशाएँ कैसे हो सकती हैं? वह ब्रह्म शान्तपद, अतिश्रेष्ठ

तथा परमार्थतत्त्वस्वरूप है। [आत्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २०॥

दीर्घो लघुः पुनरितीह न मे विभागो
विस्तारसङ्कटमितीह न मे विभागः।
कोणं हि वर्तुलमितीह न मे विभागो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २१॥

यह दीर्घ है और यह लघु है—इस प्रकारका भेद इसी लोकमें है, मुझमें नहीं है, विस्तार और संकोच—ऐसा विभाग भी इस लोकमें है, मुझमें नहीं है और कोण तथा गोलाकार—ऐसा विभाग भी इसी संसारमें है, मुझमें नहीं है; मैं तो ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २१॥

मातापितादि तनयादि न मे कदाचि-
ज्जातं मृतं न च मनो न च मे कदाचित्।
निर्व्याकुलं स्थिरमिदं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २२॥

मेरे माता, पिता, पुत्र आदि न तो कभी उत्पन्न हुए और न मृत्युको ही प्राप्त हुए, मेरा मन कभी व्याकुलतासे रहित तथा स्थिर भी नहीं है। [एकमात्र] यह आत्मा ही परमार्थतत्त्वस्वरूप है; मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २२॥

शुद्धं विशुद्धमविचारमनन्तरूपं
निर्लेपलेपमविचारमनन्तरूपम्।
निष्खण्डखण्डमविचारमनन्तरूपं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २३॥

यह चेतन आत्मा शुद्ध है, अति शुद्ध है, विचाररहित और अनन्तरूप है। यह निर्लेप होकर भी सम्बन्धयुक्त है, विचारसे परे

और अनन्तरूप है। यह नाशसे रहित और नाशवान्, अचिन्त्य तथा अनन्तरूप है। [आत्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २३॥

ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्र सन्ति
स्वर्गादयो वसतयः कथमत्र सन्ति।
यद्येकरूपममलं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २४॥

जब यह आत्मतत्त्व एकरूप, विशुद्ध तथा परमार्थस्वरूप है, तब ब्रह्मा आदि देववृन्द इसमें कैसे हो सकते हैं और स्वर्ग आदि स्थान भी इसमें कैसे हो सकते हैं? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २४॥

निर्नेति नेति विमलो हि कथं वदामि
निःशेषशेषविमलो हि कथं वदामि।
निर्लिङ्गलिङ्गविमलो हि कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २५॥

यह आत्मतत्त्व नेति और इतिसे परे है, यह सम्पूर्ण और शेषसे भी परे है तथा यह आकार और निराकारसे भी परे है। इसे मैं कैसे अभिव्यक्त करूँ? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २५॥

निष्कर्मकर्मपरमं सततं करोमि
निःसङ्गसङ्गरहितं परमं विनोदम्।
निर्देहदेहरहितं सततं विनोदं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २६॥

आत्मस्वरूप मैं कर्मसे रहित होकर भी सदा महत्कर्म करता रहता हूँ, मैं निःसंग होकर भी परमलीलाका आनन्द लेता हूँ,

देहरहित और निराकार होकर मैं निरन्तर विनोदका रस लेता हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २६॥

मायाप्रपञ्चरचना न च मे विकारः
कौटिल्यदम्भरचना न च मे विकारः।
सत्यानृतेति रचना न च मे विकारो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २७॥

माया-प्रपंचकी रचना मेरा विकार नहीं है, कुटिलता तथा दम्भकी रचना भी मेरा विकार नहीं है और सत्य तथा मिथ्याकी रचना भी मेरा विकार नहीं है; मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २७॥

सन्ध्यादिकालरहितं न च मे वियोगो
ह्यन्तःप्रबोधरहितं बधिरो न मूकः।
एवं विकल्परहितं न च भावशुद्धं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २८॥

मैं सन्ध्या, मध्याह्न आदि कालोंसे रहित हूँ, किसीके साथ मेरा वियोग नहीं है; मैं अन्तःकरणके ज्ञानसे रहित हूँ, किंतु बधिर और मूक नहीं हूँ। इस प्रकार मैं विकल्पोंसे रहित हूँ (इसलिये अन्तःकरणके अभावमें) मुझमें भाव-शुद्धि भी नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २८॥

निर्नाथनाथरहितं हि निराकुलं वै
निश्चित्तचित्तविगतं हि निराकुलं वै।
संविद्धि सर्वविगतं हि निराकुलं वै
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २९॥

मैं स्वामीसे रहित हूँ और मैं भी किसीका स्वामी नहीं हूँ। मैं

व्याकुलतासे रहित हूँ। मैं चिन्तासे रहित हूँ और चित्तसे भी रहित हूँ। मैं प्रशान्त हूँ, तुम मुझे सर्वसे रहित तथा आकुलतारहित जानो। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २९॥

कान्तारमन्दिरमिदं हि कथं वदामि
संसिद्धसंशयमिदं हि कथं वदामि।
एवं निरन्तरसमं हि निराकुलं वै
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३०॥

यह जगत् निर्जन वनस्थली है, यह मैं कैसे कहूँ; यह वास्तवमें है या इसमें संशय है—ऐसा भी मैं किस प्रकार कहूँ? इसी प्रकार यह निरन्तर सम है तथा निराकुल है—ऐसा भी मैं किस प्रकार कहूँ? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३०॥

निर्जीवजीवरहितं सततं विभाति
निर्बीजबीजरहितं सततं विभाति।
निर्वाणबन्धरहितं सततं विभाति
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३१॥

(मुझे यह संसार) निर्जीव (जड़) और जीव (चेतन) सभीसे सदा रहित ही प्रतीत होता है, निर्बीज और सबीज (पदार्थों)-से सदा रहित प्रतीत होता है और निर्वाण तथा बन्धनसे भी सदा रहित प्रतीत होता है (क्योंकि यह मायामात्र है)। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३१॥

सम्भूतिवर्जितमिदं सततं विभाति
संसारवर्जितमिदं सततं विभाति।
संहारवर्जितमिदं सततं विभाति
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३२॥

यह परमतत्त्व मुझे निरन्तर उत्पत्तिसे रहित प्रतीत होता है, यह

मुझे निरन्तर नाशसे रहित भी प्रतीत होता है और यह मुझे निरन्तर संसारसे रहित प्रतीत होता है, [ब्रह्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३२॥

उल्लेखमात्रमपि ते न च नामरूपं
निर्भिन्नभिन्नमपि ते न हि वस्तु किञ्चित्।
निर्लज्जमानस करोषि कथं विषादं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३३॥

किंचिन्मात्र भी तुम्हारा नाम तथा रूप नहीं है, तुम्हारे भेदरहित स्वरूपमें भेद उत्पन्न करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं है; तब हे निर्लज्ज मन! तुम क्यों विषाद करते हो, [ब्रह्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३३॥

किं नाम रोदिषि सखे न जरा न मृत्युः
किं नाम रोदिषि सखे न च जन्मदुःखम्।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विकारो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३४॥

हे सखे! तुम क्यों रोते हो, तुम्हें न तो जरा और न तो मृत्यु ही व्याप्त कर सकती है। हे सखे! तुम क्यों रोते हो, तुम्हें तो जन्मका दुःख भी नहीं हो सकता है। हे सखे! तुम क्यों रोते हो, तुम्हें कोई विकार नहीं हो सकता। [ब्रह्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३४॥

किं नाम रोदिषि सखे न च ते स्वरूपं
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विरूपम्।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते वयांसि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३५॥

हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, (यह शरीर) तुम्हारा

[वास्तविक] स्वरूप नहीं है। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, तुम्हारा रूप नष्ट होनेवाला नहीं है। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, आयु आदि भी तुम्हारे नहीं हैं। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३५॥

किं नाम रोदिषि सखे न च ते वयांसि
किं नाम रोदिषि सखे न च ते मनांसि।
किं नाम रोदिषि सखे न तवेन्द्रियाणि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३६॥

हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, आयु आदि तुम्हारे नहीं हैं। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, मन आदि भी तुम्हारे नहीं हैं। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, इन्द्रियाँ भी तुम्हारी नहीं हैं। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३६॥

किं नाम रोदिषि सखे न च तेऽस्ति कामः
किं नाम रोदिषि सखे न च ते प्रलोभः।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विमोहो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३७॥

हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, तुम्हारे अन्तःकरणमें कामना नहीं है। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, तुम्हारे अन्तःकरणमें लोभ नहीं है। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, तुम्हारे अन्तःकरणमें मोह नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३७॥

ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते धनानि
ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते हि पत्नी।

ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते ममेति
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३८॥

[हे तात!] जब धन आदि तुम्हारे नहीं हैं, तब तुम ऐश्वर्यकी इच्छा किसलिये करते हो; जब पत्नी भी वस्तुतः तुम्हारी नहीं है, तब तुम ऐश्वर्यकी इच्छा क्यों करते हो; जब ममत्व ही तुम्हारा नहीं रहा, तब तुम ऐश्वर्यकी इच्छा क्यों करते हो? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३८॥

लिङ्गप्रपञ्चजनुषी न च ते न मे च
निर्लज्जमानसमिदं च विभाति भिन्नम्।
निर्भेदभेदरहितं न च ते न मे च
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३९॥

[नाना प्रकारके पशु, पक्षी, मनुष्य आदि] चिह्नरूप प्रपंचकी उत्पत्ति न तुम्हारे है और न मेरे है; यह सम्पूर्ण रचना निर्लज्ज मनको [भ्रान्तिवश] भिन्न होकर प्रतीत होती है। अभेद और भेदसे रहित होना भी तुम्हारा नहीं है और मेरा भी नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३९॥

नो वाणुमात्रमपि ते हि विरागरूपं
नो वाणुमात्रमपि ते हि सरागरूपम्।
नो वाणुमात्रमपि ते हि सकामरूपं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ४०॥

तुम्हारा स्वरूप अणुमात्र भी रागसे रहित नहीं है और तुम्हारा स्वरूप अणुमात्र भी रागयुक्त नहीं है; उसी प्रकार तुम्हारा स्वरूप अणुमात्र भी कामनायुक्त नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ४०॥

ध्याता न ते हि हृदये न च ते समाधि-
र्ध्यानं न ते हि हृदये न बहिः प्रदेशः।
ध्येयं न चेति हृदये न हि वस्तु कालो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ४१॥

तुम्हारे हृदयमें न कोई ध्यान करनेवाला है, न कोई समाधि है, न कोई ध्यान है और न कोई बाह्य प्रदेश ही है; इसी प्रकार तुम्हारे हृदयमें न कोई ध्येय है, न कोई वस्तु है और न काल ही है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ४१॥

यत्सारभूतमखिलं कथितं मया ते
न त्वं न मे न महतो न गुरुर्न शिष्यः।
स्वच्छन्दरूपसहजं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ४२॥

जो कुछ भी सारभूत था, वह सब मैंने तुमसे कह दिया। वास्तवमें न तुम हो, न मैं हूँ, न कोई पूज्य है, न कोई गुरु है और न कोई शिष्य है। मैं सहज, परमस्वतन्त्र तथा परमार्थस्वरूप हूँ। [ब्रह्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ [तुम भी वही हो]॥ ४२॥

कथमिह परमार्थं तत्त्वमानन्दरूपं
कथमिह परमार्थं नैवमानन्दरूपम्।
कथमिह परमार्थं ज्ञानविज्ञानरूपं
यदि परमहमेकं वर्तते व्योमरूपम्॥ ४३॥

जब मैं ही एकमात्र परमतत्त्व आकाशकी भाँति सर्वव्याप्त हूँ, तब मैं कैसे कहूँ कि यह परमार्थतत्त्व आनन्दस्वरूप है अथवा नहीं और यह ज्ञान अथवा विज्ञान (साधना)-से प्राप्य है अथवा नहीं॥ ४३॥

दहनपवनहीनं विद्धि विज्ञानमेक-
मवनिजलविहीनं विद्धि विज्ञानरूपम्।
समगमनविहीनं विद्धि विज्ञानमेकं
गगनमिव विशालं विद्धि विज्ञानमेकम्॥ ४४॥

[हे तात!] तुम विज्ञानस्वरूप आत्माको अग्नि तथा वायुसे रहित और एक समझो; उसी प्रकार इस विज्ञानस्वरूप आत्माको पृथ्वी तथा जलसे रहित समझो; इस विज्ञानस्वरूप आत्माको सतत गतिसे विहीन समझो और इस विज्ञानस्वरूप आत्माको आकाशकी भाँति विशाल तथा एक जानो॥ ४४॥

न शून्यरूपं न विशून्यरूपं
न शुद्धरूपं न विशुद्धरूपम्।
रूपं विरूपं न भवामि किञ्चित्
स्वरूपरूपं परमार्थतत्त्वम्॥ ४५॥

मैं न शून्यरूप हूँ तथा न अशून्यरूप हूँ; न शुद्धरूप हूँ और न अशुद्ध रूप हूँ; मैं रूप तथा विरूप कुछ भी नहीं हूँ। मैं स्वरूपमात्र हूँ और परमार्थतत्त्व हूँ॥ ४५॥

मुञ्च मुञ्च हि संसारं त्यागं मुञ्च हि सर्वथा।
त्यागात्यागविषं शुद्धममृतं सहजं ध्रुवम्॥ ४६॥

[हे तात!] तुम संसारका त्याग कर दो, त्याग कर दो; पुनः उस त्यागका भी सर्वथा त्याग कर दो; त्याग तथा अत्यागको विषरूप जानकर उन्हें छोड़ दो। तुम शुद्धस्वभाव, अमृतरूप, सहज तथा नित्य हो॥ ४६॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

चौथा अध्याय

आत्मज्ञानीकी सर्वत्र समदृष्टि तथा आत्मतत्त्वकी अकथनीयताकी विवेचना

अवधूत उवाच

नावाहनं नैव विसर्जनं वा
पुष्पाणि पत्राणि कथं भवन्ति।
ध्यानानि मन्त्राणि कथं भवन्ति
समासमं चैव शिवार्चनं च॥ १ ॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले— [चेतन ब्रह्म सर्वव्यापी है, अतः] उस ब्रह्मके न तो आवाहनकी और न उसके विसर्जनकी ही कोई आवश्यकता है। पुष्प तथा पत्र आदि भी किसलिये अर्पण होते हैं। उसके ध्यान तथा मन्त्र भी किस प्रकार होते हैं अर्थात् उसकी कोई आवश्यकता नहीं। सभीमें समदृष्टि रखना ही कल्याणस्वरूप चेतन ब्रह्मका पूजन है॥ १ ॥

न केवलं बन्धविबन्धमुक्तो
न केवलं शुद्धविशुद्धमुक्तः।
न केवलं योगवियोगमुक्तः
स वै विमुक्तो गगनोपमोऽहम्॥ २ ॥

मैं केवल आसक्ति-अनासक्ति, शुद्ध-अशुद्ध और योग-वियोगसे ही रहित नहीं हूँ, मैं तो आकाशकी भाँति (सर्वव्यापक) और सर्वथा मुक्त हूँ॥ २ ॥

सञ्जायते सर्वमिदं हि तथ्यं
सञ्जायते सर्वमिदं वितथ्यम्।
एवं विकल्पो मम नैव जातः
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ३ ॥

यह सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच सत्यरूपमें उत्पन्न होता है अथवा यह मिथ्या उत्पन्न होता है—इस प्रकारका विकल्प मुझे कभी उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि मैं स्वभावसे मुक्तरूप हूँ और विकाररहित हूँ॥ ३ ॥

न साञ्जनं चैव निरञ्जनं वा
न चान्तरं वापि निरन्तरं वा।
अन्तर्विभिन्नं न हि मे विभाति
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ४ ॥

मैं न तो मायामलसे युक्त हूँ और न मायामलसे रहित ही हूँ, मैं न व्यवधान हूँ और न व्यवधानरहित हूँ। मुझे व्यवधान तथा भेदका भान नहीं होता है। मैं स्वभावसे मुक्तरूप हूँ और विकाररहित हूँ॥ ४ ॥

अबोधबोधो मम नैव जातो
बोधस्वरूपं मम नैव जातम्।
निर्बोधबोधं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ५ ॥

अज्ञानका बोध मुझे कभी नहीं हुआ, मैं बोधस्वरूप हूँ—ऐसा ज्ञान भी मुझे कभी नहीं हुआ। मैं अपनेको ज्ञानसे रहित अथवा बोध-वाला किस प्रकार कहूँ; [क्योंकि] मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ ५ ॥

न धर्मयुक्तो न च पापयुक्तो
न बन्धयुक्तो न च मोक्षयुक्तः।
युक्तं त्वयुक्तं न च मे विभाति
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ६ ॥

मैं धर्मयुक्त नहीं हूँ, पापयुक्त नहीं हूँ, बन्धनयुक्त नहीं हूँ और मोक्षयुक्त भी नहीं हूँ। मुझे युक्त तथा अयुक्तका भान नहीं होता है; [क्योंकि] मैं स्वभावसे मुक्तरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ ६ ॥

परापरं वा न च मे कदाचिन्
मध्यस्थभावो हि न चारिमित्रम्।

हिताहितं चापि कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्॥ ७॥

मुझमें न पर, न अपर और न तो मध्यस्थभाव ही हैं। मुझमें शत्रु तथा मित्रकी भी भावना नहीं है। मैं [किसीको] अपना हितकर अथवा अहितकर भी कैसे कहूँ, [क्योंकि] मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप तथा विकाररहित हूँ॥ ७॥

नोपासको नैवमुपास्यरूपं
न चोपदेशो न च मे क्रिया च।
संवित्स्वरूपं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्॥ ८॥

मैं उपासक नहीं हूँ और उपास्यरूप भी नहीं हूँ। मुझमें न तो उपदेश है और न क्रिया है। मैं अपनेको शुद्धज्ञानस्वरूप भी किस प्रकार कह सकता हूँ; [क्योंकि] मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ ८॥

नो व्यापकं व्याप्यमिहास्ति किञ्चि-
न्न चालयं वापि निरालयं वा।
अशून्यशून्यं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्॥ ९॥

इस चेतन आत्मामें किंचिन्मात्र भी व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है; इसमें आश्रयभाव अथवा अनाश्रयभाव भी नहीं है। मैं इसे शून्यरहित अथवा शून्य भी कैसे कहूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ ९॥

न ग्राहको ग्राह्यकमेव किञ्चि-
न्न कारणं वा मम नैव कार्यम्।

अचिन्त्यचिन्त्यं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १० ॥

मेरा ग्राहक (ग्रहण करनेवाला) अथवा ग्राह्य (ग्रहण किये जाने योग्य) भी कोई नहीं है; मेरा न कोई कारण है और न तो कोई कार्य है। उस आत्मतत्त्वको मैं अचिन्त्य अथवा चिन्त्य भी कैसे कहूँ; [ब्रह्मस्वरूप] मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १०॥

न भेदकं वापि न चैव भेद्यं
न वेदकं वा मम नैव वेद्यम्।
गतागतं तात कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ११ ॥

मैं न तो भेद करता हूँ न मेरा भेद होता है, मैं न तो जाननेवाला हूँ न जाना ही जाता हूँ। हे मित्र, आने-जानेवाले (पदार्थों)-के विषय में मैं कैसे कहूँ? मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप और विकाररहित हूँ॥ ११॥

न चास्ति देहो न च मे विदेहो
बुद्धिर्मनो मे न हि चेन्द्रियाणि।
रागो विरागश्च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १२ ॥

मैं न शरीरयुक्त हूँ और न शरीरसे रहित ही हूँ। बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ भी मेरे नहीं हैं। किसीमें भी मेरा राग है अथवा विराग है—यह मैं किस प्रकार कहूँ, क्योंकि मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप तथा विकाररहित हूँ॥ १२॥

उल्लेखमात्रं न हि भिन्नमुच्चै-
रुल्लेखमात्रं न तिरोहितं वै।
समासमं मित्र कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १३ ॥

जीव तथा ब्रह्मका भेद किंचिन्मात्र भी नहीं है; वह ब्रह्म

किंचिन्मात्र भी छिपा हुआ नहीं है। हे मित्र! मैं उसे सम अथवा विषम भी कैसे कह सकता हूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप तथा विकारसे रहित हूँ॥ १३॥

जितेन्द्रियोऽहं त्वजितेन्द्रियो वा
न संयमो मे नियमो न जातः।
जयाजयौ मित्र कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १४॥

मैं जितेन्द्रिय हूँ अथवा अजितेन्द्रिय हूँ—यह कैसे कहूँ, (क्योंकि) मेरा कोई संयम अथवा नियम नहीं है। हे मित्र! मैं जय तथा पराजयका किस प्रकार कथन करूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १४॥

अमूर्तमूर्तिर्न च मे कदाचि-
दाद्यन्तमध्यं न च मे कदाचित्।
बलाबलं मित्र कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १५॥

मैं कभी भी मूर्तिरहित अथवा मूर्तिमान् नहीं हूँ; मेरा कभी भी आदि, अन्त अथवा मध्य नहीं है। हे मित्र! मैं बलवान् तथा निर्बलका भी कथन किस प्रकार करूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ और विकाररहित हूँ॥ १५॥

मृतामृतं वापि विषाविषं च
सञ्जायते तात न मे कदाचित्।
अशुद्धशुद्धं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १६॥

हे तात! मुझमें मरनेका, न मरनेका, विषका अथवा विषरहितका भाव कभी उत्पन्न नहीं होता है। मैं अशुद्ध अथवा शुद्धका भी कथन कैसे करूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १६॥

स्वप्नः प्रबोधो न च योगमुद्रा
नक्तं दिवा वापि न मे कदाचित्।
अतुर्यतुर्यं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १७ ॥

मुझमें न स्वप्न है, न जाग्रत् है, न योगमुद्रा है, न रात है अथवा न दिन ही है; इसी प्रकार मैं तुरीय अथवा अतुरीय अवस्थाको भी किस प्रकार कहूँ? मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १७॥

संविद्धि मां सर्वविसर्वमुक्तं
माया विमाया न च मे कदाचित्।
सन्ध्यादिकं कर्म कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १८ ॥

[हे तात!] तुम मुझको सब प्रकार सभी (प्रपंचों)-से मुक्त जानो; माया तथा विमाया भी मुझमें कभी उत्पन्न नहीं हुए। मैं सन्ध्या आदि कर्मका भी कथन किस प्रकार करूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १८॥

संविद्धि मां सर्वसमाधियुक्तं
संविद्धि मां लक्ष्यविलक्ष्यमुक्तम्।
योगं वियोगं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १९ ॥

[हे तात!] तुम मुझको सम्पूर्ण समाधिसे युक्त जानो और मुझको लक्ष्यभाव तथा विलक्ष्यभावसे रहित जानो। मैं योग तथा वियोगको भी किस प्रकार कहूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १९॥

मूर्खोऽपि नाहं न च पण्डितोऽहं
मौनं विमौनं न च मे कदाचित्।
तर्कं वितर्कञ्च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २० ॥

मैं न तो मूर्ख हूँ और न पण्डित हूँ, मौन तथा वाचालका भाव भी मुझमें कभी नहीं हुआ। मैं तर्क और वितर्कका कथन किस प्रकार करूँ? मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप तथा विकाररहित हूँ॥ २० ॥

पिता च माता च कुलं न जाति-
र्जन्मादि मृत्युर्न च मे कदाचित्।
स्नेहं विमोहं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २१ ॥

[ब्रह्मस्वरूप] मेरा न कोई पिता है, न माता है, न कुल है और न जाति है; मेरा जन्म आदि तथा मृत्यु कभी नहीं हुए। मैं स्नेह तथा वैराग्यका कथन किस प्रकार करूँ? मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ २१ ॥

अस्तं गतो नैव सदोदितोऽहं
तेजो वितेजो न च मे कदाचित्।
सन्ध्यादिकं कर्म कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २२ ॥

मैं कभी भी लयभावको प्राप्त नहीं होता हूँ, अपितु सदा उदित रहता हूँ। तेज अथवा निस्तेज कभी भी मुझमें नहीं होता। मैं सन्ध्या आदि कर्मका कथन किस प्रकार करूँ? मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ २२ ॥

असंशयं विद्धि निराकुलं मा-
मसंशयं विद्धि निरन्तरं माम्।

असंशयं विद्धि निरञ्जनं मां
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २३ ॥

हे तात! तुम मुझको निस्सन्देह व्याकुलतासे रहित जानो, निश्चय ही मुझको शाश्वत जानो और निस्सन्देह मुझको मायामलसे रहित जानो; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप तथा विकाररहित हूँ॥ २३॥

ध्यानानि सर्वाणि परित्यजन्ति
शुभाशुभं कर्म परित्यजन्ति।
त्यागामृतं तात पिबन्ति धीराः
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २४ ॥

हे तात! आत्मज्ञानी धीर पुरुष सभी ध्यानोंका त्याग कर देते हैं, सभी शुभाशुभ कर्मोंको छोड़ देते हैं और इस प्रकार वे (सर्व) त्यागरूपी अमृतका पान करते हैं। मैं तो स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ और विकाररहित हूँ॥ २४॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र
छन्दो लक्षणं नहि नहि तत्र।
समरसमग्नो भावितपूतः
प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥ २५ ॥

पवित्रतासे युक्त तथा एकरस आत्मानन्दमें मग्न परम अवधूत उस आत्मामें कुछ भी नहीं देखता है और वहाँ कुछ भी नहीं प्राप्त करता है; क्योंकि वहाँ छन्दादि लक्षण वस्तुतः नहीं हैं। वह अवधूत तो एकमात्र परमतत्त्वका ही कथन करता है॥ २५॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

पाँचवाँ अध्याय

आत्मज्ञानीद्वारा अपने मनको प्रबोध

अवधूत उवाच

ओमिति गदितं गगनसमं त-
न्न परापरसारविचार इति।
अविलासविलासनिराकरणं
कथमक्षरबिन्दुसमुच्चरणम् ॥ १ ॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—'ओम्' इस प्रकार जो उच्चरित किया गया है, वह आकाशके समान व्यापक है; उसमें पर, अपर तथा सारका विचार नहीं है; और जगत्-प्रपंचके विलास तथा विलयका उसीमें निराकरण भी होता है। (उसके) अक्षर-बिन्दुका उच्चारण किस प्रकार होगा?॥ १ ॥

इति तत्त्वमसिप्रभृतिश्रुतिभिः
प्रतिपादितमात्मनि तत्त्वमसि।
त्वमुपाधिविवर्जितसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २ ॥

तत्त्वमसि आदि श्रुतियोंने प्रतिपादित किया है कि आत्मामें वह [ब्रह्म] तुम ही हो। तुम उपाधिसे रहित सभीमें सम हो। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २॥

अधऊर्ध्वविवर्जितसर्वसमं
बहिरन्तरवर्जितसर्वसमम्।
यदि चैकविवर्जितसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ३ ॥

जो सबमें समरूप है, वह (आत्मा) नीचे तथा ऊपरके भेदसे रहित, बाहर तथा भीतरके भेदसे रहित और एकत्वभावसे भी रहित है; हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ३॥

न हि कल्पितकल्पविचार इति
न हि कारणकार्यविचार इति।
पदसन्धिविवर्जितसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ४॥

जो सबमें समरूप है, उस (आत्मा)-में कल्पित और कल्पका विचार नहीं हो सकता; कार्य और कारणका विचार नहीं हो सकता तथा वह पद तथा सन्धिसे रहित होता है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ४॥

न हि बोधविबोधसमाधिरिति
न हि देशविदेशसमाधिरिति।
न हि कालविकालसमाधिरिति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ५॥

[समत्वकी] समाधि-अवस्थामें ज्ञान अथवा अज्ञान नहीं होता, उसमें देश अथवा विदेश यह विचार भी नहीं हो सकता; उसमें काल अथवा अकाल नहीं है—ऐसा विचार भी नहीं हो सकता। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ५॥

न हि कुम्भनभो न हि कुम्भ इति
न हि जीववपुर्न हि जीव इति।
न हि कारणकार्यविभाग इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ६॥

समत्वभावमें न तो घटाकाश है और न घट है; उसमें न तो जीवका शरीर है और न तो जीव ही है; उसमें कारण तथा कार्यका विभाग भी नहीं है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ६॥

इह सर्वनिरन्तरमोक्षपदं
लघुदीर्घविचारविहीन इति।
न हि वर्तुलकोणविभाग इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ७॥

यह चेतन आत्मा सर्वरूप, शाश्वत तथा मोक्षस्वरूप है। यह लघु तथा दीर्घके विचारसे रहित है। इसमें गोल तथा कोणका विभाग भी नहीं है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ७॥

इह शून्यविशून्यविहीन इति
इह शुद्धविशुद्धविहीन इति।
इह सर्वविसर्वविहीन इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ८॥

यह आत्मा शून्य तथा अशून्यसे रहित है; यह शुद्ध तथा अशुद्धसे विहीन है; यह सर्व तथा विसर्वसे भी रहित है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ८॥

न हि भिन्नविभिन्नविचार इति
बहिरन्तरसन्धिविचार इति।
अरिमित्रविवर्जितसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ९॥

यह चेतन आत्मा भिन्न है अथवा अभिन्न है—यह विचार नहीं हो सकता; यह बाहर है अथवा भीतर अथवा सन्धिस्थानपर है—यह विचार भी नहीं हो सकता। यह शत्रु-मित्रके भावसे रहित सर्वसम है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ९॥

न हि शिष्यविशिष्यसरूप इति
न चराचरभेदविचार इति।

इह सर्वनिरन्तरमोक्षपदं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १०॥

उस चेतन आत्मामें शिष्यभाव अथवा शिष्यत्वसे रहित होनेका भाव नहीं है। उसमें चर-अचरके भेदका विचार भी नहीं है। वह सर्वरूप, शाश्वत तथा मोक्षस्वरूप है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १०॥

ननु रूपविरूपविहीन इति
ननु भिन्नविभिन्नविहीन इति।
ननु सर्गविसर्गविहीन इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ११॥

वह चेतन आत्मा निश्चय ही रूप तथा विरूपसे रहित है; वह निश्चय ही भेद तथा अभेदसे भी रहित है; वह निश्चय ही उत्पत्ति तथा प्रलयसे भी रहित है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ११॥

न गुणागुणपाशनिबन्ध इति
मृतजीवनकर्म करोति कथम्।
इति शुद्धनिरञ्जनसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १२॥

उस चेतन आत्मामें गुण तथा अगुणके पाशका बन्धन नहीं है; वह मृतकके तथा जीवितके कर्म कैसे कर सकता है? वह शुद्ध, मायामलसे रहित तथा सर्वत्र समरूप है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १२॥

इह भावविभावविहीन इति
इह कामविकामविहीन इति।

इह बोधतमं खलु मोक्षसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १३॥

वह आत्मा भाव तथा अभावसे रहित है; वह काम तथा अकामसे रहित है। वह आत्मा परम बोधस्वरूप तथा मोक्षस्वरूप है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १३॥

इह तत्त्वनिरन्तरतत्त्वमिति
न हि सन्धिविसन्धिविहीन इति।
यदि सर्वविवर्जितसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १४॥

इस आत्मामें यह तत्त्व है या निरन्तरता ही तत्त्व है—ऐसा भेद नहीं होता है; यह सन्धि तथा विसन्धिसे रहित है। यदि यह सर्वसे रहित तथा सर्वसम है, तब हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १४॥

अनिकेतकुटी परिवारसमं
इह सङ्गविसङ्गविहीनपरम्।
इह बोधविबोधविहीनपरं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १५॥

तुम्हारे लिये एकान्त कुटियामें रहना या परिवारके बीच रहना समान है, उसी तरह संग-असंग और ज्ञान-अज्ञानके द्वन्द्वसे परे तुम्हारी स्थिति है। तब हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १५॥

अविकारविकारमसत्यमिति
अविलक्षविलक्षमसत्यमिति।
यदि केवलमात्मनि सत्यमिति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १६॥

विकाररहित और विकारवान् दोनों ही असत्य हैं, प्रत्यक्ष और

परोक्ष भी दोनों असत्य ही हैं। जब सत्य केवल आत्मस्वरूपमें ही निहित है, तब हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १६॥

इह सर्वसमं खलु जीव इति
इह सर्वनिरन्तरजीव इति।
इह केवलनिश्चलजीव इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १७॥

इस जगत्‌में निश्चय ही आत्मा सबमें समरूप है, आत्मा सबमें निरन्तर विद्यमान है। इस जगत्‌में केवल निश्चल आत्मा ही है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १७॥

अविवेकविवेकमबोध इति
अविकल्पविकल्पमबोध इति।
यदि चैकनिरन्तरबोध इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १८॥

अविवेक तथा विवेक अज्ञान ही है और विकल्पका अभाव तथा विकल्प भी अज्ञान ही है। यदि एकमात्र शाश्वत ज्ञान ही है तो हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १८॥

न हि मोक्षपदं न हि बन्धपदं
न हि पुण्यपदं न हि पापपदम्।
न हि पूर्णपदं न हि रिक्तपदं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १९॥

इस आत्मामें न मोक्षपद है न बन्धपद है, न पुण्यपद है न पापपद है और न पूर्णपद है न रिक्तपद है; तो फिर हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १९॥

यदि वर्णविवर्णविहीनसमं
यदि कारणकार्यविहीनसमम्।
यदि भेदविभेदविहीनसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २०॥

यदि आत्मा वर्ण अथवा वर्णविशेषके अभावसे रहित है और सम है; यदि वह कारण तथा कार्यसे रहित और सम है; यदि वह भेद तथा विभेदसे रहित है और सम है तो हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २०॥

इह सर्वनिरन्तरसर्वचिते
इह केवलनिश्चलसर्वचिते।
द्विपदादिविवर्जितसर्वचिते
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २१॥

इस संसारमें आत्मा सबमें सदा एकरस चैतन्यरूपसे विद्यमान है; यह एकमात्र निश्चलभावसे सभीके चित्तमें विद्यमान है और दो पैर आदि स्थूल शरीरके भावसे रहित होकर सर्वत्र चैतन्यरूपसे विद्यमान है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २१॥

अतिसर्वनिरन्तरसर्वगतं
अतिनिर्मलनिश्चलसर्वगतम्।
दिनरात्रिविवर्जितसर्वगतं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २२॥

वह चेतन आत्मा अतिशय एकरस होकर सबमें व्याप्त है; वह अत्यन्त निर्मल तथा अचल होकर सबमें व्याप्त है; वह दिन-रातसे रहित होकर सबमें व्याप्त है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २२॥

न हि बन्धविबन्धसमागमनं
न हि योगवियोगसमागमनम्।
न हि तर्कवितर्कसमागमनं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २३॥

सामान्य बन्धन तथा विशेष बन्धन दोनोंका आगमन आत्मामें नहीं होता है, उसमें योगका तथा वियोगका आगमन नहीं होता और तर्कका तथा वितर्कका भी समावेश नहीं होता है; हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २३॥

इह कालविकालनिराकरण-
मणुमात्रकृशानुनिराकरणम्।
न हि केवलसत्यनिराकरणं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २४॥

इस आत्मामें सामान्य कालका तथा विशेष कालका निराकरण है; इसमें अणुमात्र भी अग्निका (भौतिक तत्त्वोंका) निराकरण है, इसमें एकमात्र सत्यका निराकरण नहीं है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २४॥

इह देहविदेहविहीन इति
ननु स्वप्नसुषुप्तिविहीनपरम्।
अभिधानविधानविहीनपरं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २५॥

यह आत्मा देह तथा विदेहसे रहित है; यह निश्चय ही स्वप्न तथा सुषुप्तिसे भी रहित और परे है, यह कथन तथा विधानसे भी रहित और परे है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो, तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २५॥

गगनोपमशुद्धविशालसम-
मतिसर्वविवर्जितसर्वसमम्।
गतसारविसारविकारसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २६॥

वह आत्मा आकाशके समान शुद्ध, विशाल तथा सम है; वह समस्त मिथ्या-प्रपंचसे रहित और सम है; वह सार, विसार तथा विकारसे विहीन है और सम है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २६॥

इह धर्मविधर्मविरागतर-
मिह वस्तुविवस्तुविरागतरम्।
इह कामविकामविरागतरं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २७॥

इस संसारमें श्रेष्ठ वैराग्य होनेपर सामान्य और विशेष धर्म सभी समान हैं, सामान्य और विशेष पदार्थ सभी समान हैं तथा सामान्य और विशेष इच्छा सभी समान है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २७॥

सुखदुःखविवर्जितसर्वसम-
मिह शोकविशोकविहीनपरम्।
गुरुशिष्यविवर्जिततत्त्वपरं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २८॥

वह चेतन आत्मा सुख-दुःखसे रहित है तथा सर्वसम है; वह शोक तथा विशोकसे पूर्णतः रहित है; वह गुरु-शिष्य-सम्बन्धसे रहित परमतत्त्व है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २८॥

न किलाङ्कुरसारविसार इति
न चलाचलसाम्यविसाम्यमिति।
अविचारविचारविहीनमिति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २९॥

आत्मामें निश्चित रूपसे सार-असारका कोई अंकुर नहीं होता है; उसमें चल, अचल, साम्य तथा वैषम्य भी नहीं होते हैं; वह अविचार तथा विचारसे रहित है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २९॥

इह सारसमुच्चयसारमिति
कथितं निजभावविभेद इति।
विषये करणत्वमसत्यमिति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ३०॥

इस आत्मामें सम्पूर्ण सारोंका भी सार विद्यमान है। यहाँ अपने भावको यथावत् कह दिया है। सांसारिक विषयोंके प्रति कर्तव्य असत्य ही है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ३०॥

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति यतो
वियदादिरिदं मृगतोयसमम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ३१॥

अनेक श्रुतियाँ कहती हैं कि जो कुछ भी आकाश आदि यह प्रपंच है, सब मृगतृष्णाके जलके समान है। यदि एकमात्र चेतन आत्मा ही नित्य तथा सर्वसम है तो फिर हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ३१॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र
छन्दो लक्षणं नहि नहि तत्र।
समरसमग्नो भावितपूतः
प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः॥ ३२॥

पवित्रतासे युक्त तथा एकरस आत्मानन्दमें मग्न परम अवधूत उस आत्मामें कुछ भी नहीं देखता है और वहाँ कुछ भी नहीं प्राप्त करता है; क्योंकि वहाँ छन्दादि लक्षण वस्तुतः नहीं हैं; वह अवधूत तो एकमात्र परमतत्त्वका ही कथन करता है॥ ३२॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५ ॥

छठा अध्याय

आत्माके सर्वभेदातीतत्वका विचार तथा आत्मतत्त्वबोध

अवधूत उवाच

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति वयं
वियदादिरिदं मृगतोयसमम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
मुपमेयमथो ह्युपमा च कथम्॥ १॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—अनेक श्रुतियाँ कहती हैं कि हम तथा आकाश आदि यह समस्त प्रपंच मृगतृष्णाके जलके समान है। यदि वह चेतन आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो यह उपमेय और उपमाका व्यवहार कैसे हो सकता है?॥ १॥

अविभक्तिविभक्तिविहीनपरं
ननु कार्यविकार्यविहीनपरम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
यजनं च कथं तपनं च कथम्॥ २॥

वह चेतन आत्मा विभाग तथा अविभागसे विहीन और परे है;

वह कार्य तथा कार्याभावसे रहित और परे है। यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो पूजन और तप किसलिये?॥ २॥

मन एव निरन्तरसर्वगतं
ह्यविशालविशालविहीनपरम्।
मन एव निरन्तरसर्वशिवं
मनसापि कथं वचसा च कथम्॥ ३॥

मन ही (आत्मरूपसे) निरन्तर और सर्वगत है; वह विस्तार तथा विस्तारके अभावसे रहित और परे है। मन ही निरन्तर, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है; उस परब्रह्मको मनके द्वारा कैसे जाना जा सकता है और वाणीके द्वारा उसका कथन कैसे किया जा सकता है?॥ ३॥

दिनरात्रिविभेदनिराकरण-
मुदितानुदितस्य निराकरणम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
रविचन्द्रमसौ ज्वलनश्च कथम्॥ ४॥

उस चेतन आत्मामें दिन तथा रात्रिके भेदका निषेध है; उसमें सूर्य आदिके उदय होने अथवा उदय न होनेका भी निराकरण है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो ये सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निरूप भिन्न कैसे हो सकते हैं?॥ ४॥

गतकामविकामविभेद इति
गतचेष्टविचेष्टविभेद इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
बहिरन्तरभिन्नमतिश्च कथम्॥ ५॥

उस चेतन आत्मामें कामना तथा कामनाके अभावका भेद नहीं है। उसमें चेष्टा तथा चेष्टाके अभावका भेद भी नहीं है। यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो उसमें बाहर और भीतरके

भेदकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ ५॥

यदि सारविसारविहीन इति
यदि शून्यविशून्यविहीन इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
प्रथमं च कथं चरमं च कथम्॥ ६॥

यदि वह चेतन आत्मा सार तथा असारसे रहित है; यदि वह शून्य तथा अशून्यसे रहित है और यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो फिर उसमें आदि कैसे और अन्त कैसे हो सकता है?॥ ६॥

यदि भेदविभेदनिराकरणं
यदि वेदकवेद्यनिराकरणम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
तृतीयं च कथं तुरीयं च कथम्॥ ७॥

यदि वह चेतन आत्मा भेद तथा अभेदसे रहित है; यदि वह ज्ञाता तथा ज्ञेयके भेदसे रहित है और यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो उसमें तृतीय और चतुर्थ–अवस्था कैसे हो सकती है?॥ ७॥

गदितागदितं न हि सत्यमिति
विदिताविदितं न हि सत्यमिति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
विषयेन्द्रियबुद्धिमनांसि कथम्॥ ८॥

कथित और अकथित व्यवहार सत्य नहीं है; ज्ञात और अज्ञात भी सत्य नहीं है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो फिर विषय, इन्द्रिय, बुद्धि तथा मन उसमें कैसे हो सकते हैं?॥ ८॥

गगनं पवनो न हि सत्यमिति
धरणी दहनो न हि सत्यमिति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
जलदश्च कथं सलिलं च कथम्॥ ९॥

आकाश तथा वायु सत्य नहीं हैं, पृथ्वी तथा अग्नि भी सत्य नहीं हैं। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो फिर मेघ कैसे सत्य हो सकता है और जल कैसे सत्य हो सकता है?॥ ९॥

यदि कल्पितलोकनिराकरणं
यदि कल्पितदेवनिराकरणम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
गुणदोषविचारमतिश्च कथम्॥ १०॥

यदि कल्पित लोकोंका उसमें निषेध है; यदि कल्पित देवताओंका उसमें निषेध है और यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो फिर गुण तथा दोषके विचारकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ १०॥

मरणामरणं हि निराकरणं
करणाकरणं हि निराकरणम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
गमनागमनं हि कथं वदति॥ ११॥

वह चेतन आत्मा मरण तथा अमरणसे रहित है; वह कर्तव्य तथा अकर्तव्यसे भी रहित है। यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो उसमें गमन तथा आगमनका भाव कैसे कहा जा सकता है?॥ ११॥

प्रकृतिः पुरुषो न हि भेद इति
न हि कारणकार्यविभेद इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
पुरुषापुरुषं च कथं वदति॥ १२॥

'प्रकृति और पुरुष' का भेद वास्तवमें है ही नहीं; कारण तथा कार्यका भी भेद नहीं है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो यह पुरुष है तथा यह पुरुष नहीं है—यह कैसे कहा जा सकता है?॥ १२॥

तृतीयं न हि दुःखसमागमनं
न गुणाद् द्वितीयस्य समागमनम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
स्थविरश्च युवा च शिशुश्च कथम्॥ १३॥

दुःख (और सुखके द्वन्द्व)-से तीसरेकी उत्पत्ति नहीं होती, एक गुणसे दूसरे गुणकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप और कल्याणस्वरूप है तो वृद्ध, युवा और बालककी भिन्न स्थिति कैसे हो सकती है?॥ १३॥

ननु आश्रमवर्णविहीनपरं
ननु कारणकर्तृविहीनपरम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
मविनष्टविनष्टमतिश्च कथम्॥ १४॥

वह आत्मा निश्चय ही आश्रम तथा वर्णसे रहित है; वह निश्चय ही कारण तथा कर्तासे भी रहित है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो उसके विषयमें नाश होने तथा नाश न होनेवाली बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ १४॥

ग्रसिताग्रसितं च वितथ्यमिति
जनिताजनितं च वितथ्यमिति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
मविनाशिविनाशि कथं हि भवेत्॥ १५॥

वह चेतन आत्मा ग्रसनेवाला है और ग्रसित किया जाता है—यह मिथ्या है; वह उत्पन्न करनेवाला है और उत्पन्न होनेवाला है—यह भी मिथ्या है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो वह नाशरहित अथवा नाशवान् कैसे हो सकता है?॥ १५॥

पुरुषापुरुषस्य विनष्टमिति
वनितावनितस्य विनष्टमिति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
मविनोदविनोदमतिश्च कथम्॥ १६॥

वह आत्मा पुरुष है या पुरुष नहीं है—यह विचार व्यर्थ है; वह स्त्री है या स्त्री नहीं है—यह विचार भी व्यर्थ है। यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो शोक और हर्षकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ १६॥

यदि मोहविषादविहीनपरो
यदि संशयशोकविहीनपरः।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
महमेति ममेति कथं च पुनः॥ १७॥

यदि वह चेतन आत्मा मोह तथा विषादसे रहित और श्रेष्ठ है; यदि वह संशय तथा शोकसे रहित है और श्रेष्ठ है; यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो 'मैं हूँ तथा यह मेरा है'—इस प्रकारकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ १७॥

ननु धर्मविधर्मविनाश इति
ननु बन्धविबन्धविनाश इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
मिह दुःखविदुःखमतिश्च कथम्॥ १८॥

यदि चेतन आत्मामें धर्म तथा विधर्मका अभाव है; यदि उसमें बन्धन तथा मोक्षका अभाव है और यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो इसके प्रति दुःख-सुखकी बुद्धि किस प्रकार हो सकती है?॥ १८॥

न हि याज्ञिकयज्ञविभाग इति
न हुताशनवस्तुविभाग इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
वद कर्मफलानि भवन्ति कथम्॥ १९॥

याज्ञिक तथा यज्ञमें (वास्तविक) भेद नहीं है; इसी प्रकार अग्नि तथा हवनीय वस्तुमें भी भेद नहीं है। यदि आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो फिर बताओ कि कर्मोंके फल किस प्रकार हो सकते हैं?॥ १९॥

ननु शोकविशोकविमुक्त इति
ननु दर्पविदर्पविमुक्त इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
ननु रागविरागमतिश्च कथम्॥ २०॥

वह आत्मा निश्चय ही शोक तथा अशोकसे रहित है; वह निश्चय ही अहंकार तथा निरहंकारसे रहित है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो राग-विरागकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ २०॥

न हि मोहविमोहविकार इति
न हि लोभविलोभविकार इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
ह्यविवेकविवेकमतिश्च कथम्॥ २१॥

उस आत्मामें मोह तथा विमोहका विकार नहीं है; उसमें लोभ तथा अलोभका भी विकार नहीं है। यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो निश्चय ही उसमें विचार तथा अविचारकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ २१॥

त्वमहं न हि हन्त कदाचिदपि
कुलजातिविचारमसत्यमिति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति
अभिवादनमत्र करोमि कथम्॥ २२॥

अहो, 'तुम' और 'मैं' इस प्रकारका भेद कभी नहीं है; कुल तथा जातिका विचार भी सत्य नहीं है। मैं ही कल्याणरूप तथा परमार्थ तत्त्व हूँ तो फिर [अद्वैतरूप] मैं यहाँ वन्दन किस प्रकार करूँ?॥ २२॥

गुरुशिष्यविचारविशीर्ण इति
उपदेशविचारविशीर्ण इति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति
अभिवादनमत्र करोमि कथम्॥ २३॥

वह चेतन आत्मा गुरु तथा शिष्यभावके विचारसे रहित है; वह उपदेश और तर्ककी भावनासे भी रहित है। मैं ही कल्याणस्वरूप तथा परमार्थ तत्त्व हूँ तो फिर [अद्वैतरूप] मैं यहाँ वन्दन किस प्रकार करूँ?॥ २३॥

न हि कल्पितदेहविभाग इति
न हि कल्पितलोकविभाग इति।

अहमेव शिवः परमार्थ इति
अभिवादनमत्र करोमि कथम्॥ २४॥

यह (स्थूल-सूक्ष्मादि) देहका कल्पित भेद मिथ्या है। यह (चतुर्दश) लोकोंका कल्पित भेद भी मिथ्या है। मैं ही कल्याणस्वरूप तथा परमार्थ-तत्त्व हूँ तो फिर (अद्वैतरूप) मैं यहाँ वन्दन किस प्रकार करूँ?॥ २४॥

सरजो विरजो न कदाचिदपि
ननु निर्मलनिश्चलशुद्ध इति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति
अभिवादनमत्र करोमि कथम्॥ २५॥

आत्मा रागयुक्त और रागरहित भी कभी नहीं है; वह निश्चय ही निर्मल, निश्चल तथा शुद्ध है। मैं ही कल्याणरूप तथा परमार्थ तत्त्व हूँ तो फिर [अद्वैतरूप] मैं यहाँ वन्दन किस प्रकार करूँ?॥ २५॥

न हि देहविदेहविकल्प इति
अनृतं चरितं न हि सत्यमिति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति
अभिवादनमत्र करोमि कथम्॥ २६॥

उस चेतन आत्मामें देहयुक्त और देहरहित होनेका विकल्प नहीं है; उसमें मिथ्या और सत्य चरित्रका भी विकल्प नहीं है। [आत्मस्वरूप] मैं ही कल्याणरूप तथा परमार्थ तत्त्व हूँ तो फिर [अद्वैतरूप] मैं यहाँ वन्दन किस प्रकार करूँ?॥ २६॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र
छन्दो लक्षणं नहि नहि तत्र।
समरसमग्नो भावितपूतः
प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः॥ २७॥

पवित्रतासे युक्त तथा एकरस आत्मानन्दमें मग्न परम अवधूत उस आत्मामें कुछ भी नहीं देखता है और वहाँ कुछ भी नहीं प्राप्त करता

है; क्योंकि वहाँ छन्दादि लक्षण वस्तुतः नहीं हैं; वह अवधूत तो एकमात्र परमतत्त्वका ही कथन करता है॥ २७॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां स्वामिकार्तिकसंवादे स्वात्मवित्त्युपदेशमोक्षनिर्णयो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

ब्रह्मानन्दमग्न आत्मज्ञानी अवधूतके लक्षण एवं स्थिति

अवधूत उवाच

रथ्याकर्पटविरचितकन्थः
पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः ।
शून्यागारे तिष्ठति नग्नः
शुद्धनिरञ्जनसमरसमग्नः ॥ १ ॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—गलियोंमें गिरे-पड़े कपड़ोंकी बनी हुई गुदड़ी धारण करनेवाला, पुण्य-पापसे रहित मार्गपर चलनेवाला, शुद्ध चित्तवाला तथा ब्रह्मानन्दके रसमें मग्न अवधूत नग्न होकर एकान्त स्थानमें स्थित रहता है॥ १॥

लक्ष्यालक्ष्यविवर्जितलक्ष्यो
युक्तायुक्तविवर्जितदक्षः ।
केवलतत्त्वनिरञ्जनपूतो
वादविवादः कथमवधूतः ॥ २ ॥

जो प्रत्यक्ष-परोक्षसे रहित लक्ष्यवाला है; जो विधि-निषेधके वर्जनमें दक्ष है; जो अद्वितीय अविद्याशून्य तत्त्वज्ञानसे पवित्र है—उस अवधूतके लिये वाद-विवाद कैसा?॥ २॥

आशापाशविबन्धनमुक्ताः
शौचाचारविवर्जितयुक्ताः ।

एवं सर्वविवर्जितसन्तस्-
स्तत्त्वं शुद्धनिरञ्जनवन्तः ॥ ३ ॥

अवधूत लोग आशारूपी पाशके बन्धनसे मुक्त हैं; वे शौचाचार आदिसे रहित होकर आत्मासे सदा जुड़े रहते हैं। इस प्रकार वे सभी व्यवहारोंसे रहित रहते हुए तत्त्वस्वरूप हैं तथा शुद्धज्ञानसे सम्पन्न रहते हैं॥ ३॥

कथमिह देहविदेहविचारः
कथमिह रागविरागविचारः।
निर्मलनिश्चलगगनाकारं
स्वयमिह तत्त्वं सहजाकारम्॥ ४॥

इस अवधूतकी दृष्टिमें देह तथा विदेहका विचार कैसा; इसकी दृष्टिमें राग तथा विरागका विचार कैसा? वह निर्मल, निश्चल तथा आकाशके समान व्यापक रूपवाला है; वह स्वयं स्वभावतः आत्मतत्त्वस्वरूप है॥ ४॥

कथमिह तत्त्वं विन्दति यत्र
रूपमरूपं कथमिह तत्र।
गगनाकारः परमो यत्र
विषयीकरणं कथमिह तत्र॥ ५॥

जहाँ तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया, वहाँ साकार-निराकार (रूप-अरूप)-की क्या बात हो सकती है? जिसे परम आकाशभाव व्याप्त है, उसे सांसारिक विषयोंका प्रपंच कैसे स्पर्श कर सकता है?॥ ५॥

गगनाकारनिरन्तरहंस-
स्तत्त्वविशुद्धनिरञ्जनहंसः।
एवं कथमिह भिन्नविभिन्नं
बन्धविबन्धविकारविभिन्नम्॥ ६॥

वह [ब्रह्मस्वरूप] अवधूत आकाशतुल्य, शाश्वत तथा हंसरूप

है। वह परमतत्त्व, विशुद्ध, मायामलसे रहित तथा हंसरूप है। इस प्रकार इस [आत्मस्वरूप अवधूत]-में भेद-विभेद एवं बन्ध-विबन्धका विकार तथा भेद किस प्रकार हो सकता है?॥ ६॥

केवलतत्त्वनिरन्तरसर्वं
योगवियोगौ कथमिह गर्वम्।
एवं परमनिरन्तरसर्व-
मेवं कथमिह सारविसारम्॥ ७॥

एकमात्र आत्मतत्त्व ही शाश्वत तथा सर्वरूप है; उसमें संयोग, वियोग तथा अहंकार कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार जब वह परम, शाश्वत सर्वरूप है तो फिर उसमें सार-असार कैसा?॥ ७॥

केवलतत्त्वनिरञ्जनसर्वं
गगनाकारनिरन्तरशुद्धम्।
एवं कथमिह सङ्गविसङ्गं
सत्यं कथमिह रङ्गविरङ्गम्॥ ८॥

केवल आत्मतत्त्व ही अज्ञानरहित, सर्वरूप, आकाशके समान व्यापक, एकरस तथा शुद्ध है; ऐसा होनेपर इस आत्मामें संग तथा असंग कैसे हो सकते हैं और इसमें सत्य, वर्ण तथा विवर्णका भाव कैसे होगा?॥ ८॥

योगवियोगै रहितो योगी
भोगविभोगै रहितो भोगी।
एवं चरति हि मन्दं मन्दं
मनसा कल्पितसहजानन्दम्॥ ९॥

वह आत्मज्ञानी अवधूत योग तथा वियोगसे रहित योगी है एवं भोग तथा विरागसे रहित भोगी भी है। इस प्रकार वह मनके द्वारा कल्पित स्वाभाविक आनन्दको धीरे-धीरे प्राप्त करता रहता है॥ ९॥

बोधविबोधैः सततं युक्तो
द्वैताद्वैतैः कथमिह मुक्तः।
सहजो विरजः कथमिह योगी
शुद्धनिरञ्जनसमरसभोगी ॥ १० ॥

ज्ञान तथा अज्ञानसे तथा द्वैत-अद्वैतकी भावनासे निरन्तर युक्त योगी इस संसारमें कैसे मुक्त हो सकता है? स्वभावसे ही राग-रहित योगी शुद्ध, अज्ञानरहित आत्मानन्दका भोग कैसे कर सकता है?॥ १० ॥

भग्नाभग्नविवर्जितभग्नो
लग्नालग्नविवर्जितलग्नः ।
एवं कथमिह सारविसारः
समरसतत्त्वं गगनाकारः ॥ ११ ॥

वह आत्मतत्त्व खण्ड तथा अखण्डके भावसे रहित है; वह संसर्ग-विसर्गके भावोंसे भी रहित है। इस प्रकार इस आत्मतत्त्वमें सार तथा विसार कैसे हो सकते हैं? यह समरस, परमतत्त्वस्वरूप तथा आकाशके समान व्यापक आकारवाला है॥ ११ ॥

सततं सर्वविवर्जितयुक्तः
सर्वं तत्त्वविवर्जितमुक्तः।
एवं कथमिह जीवितमरणं
ध्यानाध्यानैः कथमिह करणम्॥ १२ ॥

योगी निरन्तर समस्त प्रपंचोंसे रहित होकर आत्मतत्त्वमें लीन रहता है; वह सम्पूर्ण तत्त्वोंसे रहित होकर जीवन्मुक्त है। ऐसी स्थितिमें उसका जीवन और मरण कैसे हो सकता है; इसी प्रकार उसे ध्यान तथा ध्यानका अभाव किस प्रकार हो सकता है?॥ १२ ॥

इन्द्रजालमिदं सर्वं यथा मरुमरीचिका।
अखण्डितघनाकारो वर्तते केवलः शिवः॥ १३॥

यह सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच इन्द्रजाल तथा मरुदेशमें मृगमरीचिकाके जलके समान मिथ्या है। अविनाशी, परिपूर्ण तथा [एकमात्र] कल्याणस्वरूप आत्मतत्त्व ही सत्य है॥ १३॥

धर्मादौ मोक्षपर्यन्तं निरीहाः सर्वथा वयम्।
कथं रागविरागैश्च कल्पयन्ति विपश्चितः॥ १४॥

हम लोग धर्मसे लेकर मोक्षपर्यन्त चारों पुरुषार्थोंके प्रति कामनारहित हैं। विद्वान् लोग राग तथा विरागकी कल्पना किस प्रकार करते रहते हैं?॥ १४॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र
छन्दो लक्षणं नहि नहि तत्र।
समरसमग्नो भावितपूतः
प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः॥ १५॥

पवित्रतासे युक्त तथा एकरस आत्मानन्दमें मग्न परम अवधूत उस आत्मामें कुछ भी नहीं देखता है और वहाँ कुछ भी नहीं प्राप्त करता है; क्योंकि वहाँ छन्दादि लक्षण वस्तुतः नहीं हैं। वह अवधूत एकमात्र परमतत्त्वका ही कथन करता है॥ १५॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां स्वामिकार्तिकसंवादे स्वात्मसंवित्त्युपदेशे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

आठवाँ अध्याय

मुनि (आत्मज्ञानी) एवं अवधूतके लक्षण तथा स्त्रीसंग-परित्यागकी प्रेरणा

अवधूत उवाच

त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते
ध्यानेन चेतःपरता हता ते।

स्तुत्या मया वाक्परता हता ते
क्षमस्व नित्यं त्रिविधापराधान्॥ १॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—[हे प्रभो!] तुम्हारी धाम-यात्रा करनेसे मैंने तुम्हारी सर्वव्यापकता घटा दी, तुम्हारा ध्यान करनेसे मैंने तुम्हारा चित्तके परे होनेका गुण नष्ट कर दिया, मेरे द्वारा तुम्हारी स्तुति करनेसे तुम्हारा वाणीसे परे होनेका गुण छिप गया। तुम सदा मेरे इन तीनों अपराधोंको क्षमा करो॥ १॥

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक्छान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥ २॥

कामनाओंसे अनाहत बुद्धिवाला, इन्द्रियोंका दमन करनेवाला, कोमल स्वभाववाला, पवित्र, संग्रहसे रहित, इच्छारहित, सीमित आहार ग्रहण करनेवाला, शान्त, स्थिर मतिवाला, आत्माकी शरण ग्रहण करनेवाला मुनि (आत्मज्ञानी) होता है॥ २॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥ ३॥

वह प्रमादशून्य, गम्भीर स्वभाववाला, धैर्यसम्पन्न, [काम, क्रोध आदि] छः विकारोंको जीत लेनेवाला, मानरहित, दूसरोंको सम्मान देनेवाला, कर्तव्यपरायण, मैत्रीपूर्ण व्यवहारवाला, दयालु तथा कवि (दूरदर्शी) होता है॥ ३॥

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यासारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥ ४॥

वह कृपालु, सभी देहधारियोंसे द्रोह न करनेवाला, सहनशील, सत्यसम्पन्न, निर्दोष मनवाला, सबके प्रति समान भाव रखनेवाला तथा सभीका उपकार करनेवाला होता है॥ ४॥

अवधूतलक्षणं वर्णैर्ज्ञातव्यं भगवत्तमैः।
वेदवर्णार्थतत्त्वज्ञैर्वेदवेदान्तवादिभिः ॥ ५ ॥

पूर्ण भक्तिसे सम्पन्न, वेदके वर्णों, अर्थ तथा तत्त्वोंको जाननेवाले वेद-वेदान्तके ज्ञानियोंको अकारादि वर्णोंके द्वारा अवधूतका लक्षण जानना चाहिये॥ ५॥

आशापाशविनिर्मुक्त आदिमध्यान्तनिर्मलः।
आनन्दे वर्तते नित्यमकारं तस्य लक्षणम्॥ ६॥

जो आशारूपी पाश (बन्धन)-से पूर्णतः मुक्त है; आदि, मध्य और अन्त (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति)—इन तीनों अवस्थाओंमें अथवा आदि, अन्त, मध्य (भूत, वर्तमान, भविष्यत्)—इन तीनों कालोंमें निर्मल चित्तवाला है और सदा ब्रह्मानन्दमें मग्न रहता है, उस अवधूतका यह 'अकार' लक्षण है॥ ६॥

वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम्।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारं तस्य लक्षणम्॥ ७॥

जिसने वासनाका परित्याग कर दिया है, जिसका वचन विकाररहित है और जो वर्तमानमें व्यवहार करता है अर्थात् वर्तमानमें प्राप्त परिस्थितिके अनुसार आचरण कर लेता है, उस अवधूतका यह 'वकार' लक्षण है॥ ७॥

धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तो निरामयः।
धारणाध्याननिर्मुक्तो धूकारस्तस्य लक्षणम्॥ ८॥

जिसके शरीरके अंग धूलसे धूसरित रहते हैं, जो निष्पाप चित्तवाला है, विकाररहित है, धारणा तथा ध्यान आदि क्रिया-कलापोंसे रहित है, उस अवधूतका यह 'धूकार' लक्षण है॥ ८॥

तत्त्वचिन्ता धृता येन चिन्ताचेष्टाविवर्जितः।
तमोऽहङ्कारनिर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम्॥ ९॥

जिसने आत्मतत्त्वके चिन्तनको धारण कर रखा है, जो भौतिक चिन्ता तथा चेष्टासे रहित है, जो अज्ञानरूप अन्धकार और अहंकारसे रहित है, उस अवधूतका यह 'तकार' लक्षण है॥ ९॥

आत्मानं चामृतं हित्वा अभिन्नं मोक्षमव्ययम्।
गतो हि कुत्सितः काको वर्तते नरकं प्रति॥ १०॥

अमृतस्वरूप, भेदरहित, मोक्षस्वरूप तथा शाश्वत आत्माका त्याग करके निन्दित और नीच पुरुष [बार-बार] नरककी ओर दौड़ता है॥ १०॥

मनसा कर्मणा वाचा त्यज्यतां मृगलोचना।
न ते स्वर्गोऽपवर्गो वा सानन्दं हृदयं यदि॥ ११॥

मन, वाणी तथा कर्मसे मृगके समान नेत्रोंवाली नारीका त्याग कर देना चाहिये। यदि तुम्हारा मन आत्मानन्दसे पूर्ण है, तब तुम्हें स्वर्ग अथवा मोक्षकी क्या आवश्यकता?॥ ११॥

न जानामि कथं तेन निर्मिता मृगलोचना।
विश्वासघातकीं विद्धि स्वर्गमोक्षसुखार्गलाम्॥ १२॥

मैं नहीं जानता कि उस [विधाता]-ने मृगनयनी स्त्रीकी रचना किसलिये की। स्त्रीको तुम विश्वासघात करनेवाली और स्वर्ग तथा मोक्षके सुखकी अर्गला (बाधा) समझो॥ १२॥

मूत्रशोणितदुर्गन्धे ह्यमेध्यद्वारदूषिते।
चर्मकुण्डे ये रमन्ति ते लिप्यन्ते न संशयः॥ १३॥

जो लोग मूत्र तथा रक्तसे दुर्गन्धियुक्त और मलके द्वारसे दूषित चर्मकुण्डमें रमण करते हैं, वे इस दुःखमय संसारमें लिप्त रहते हैं; इसमें सन्देह नहीं है॥ १३॥

कौटिल्यदम्भसंयुक्ता सत्यशौचविवर्जिता।
केनापि निर्मिता नारी बन्धनं सर्वदेहिनाम्॥ १४॥

कुटिलता तथा दम्भसे युक्त और सत्य तथा पवित्रतासे रहित एवं सभी देहधारियोंकी बन्धनस्वरूपा नारीको किसने बना दिया?॥ १४॥

त्रैलोक्यजननी धात्री सा भगी नरकं ध्रुवम्।
तस्यां जातो रतस्तत्र हा हा संसारसंस्थितिः॥ १५॥

जो स्त्री तीनों लोकोंकी जननी और पोषण करनेवाली है, वह भगयुक्त होनेसे निश्चय ही साक्षात् नरक है। उसी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मनुष्य पुनः उसीका भोग करता है, महान् खेद है कि संसारकी यही स्थिति है॥ १५॥

जानामि नरकं नारीं ध्रुवं जानामि बन्धनम्।
यस्यां जातो रतस्तत्र पुनस्तत्रैव धावति॥ १६॥

मैं स्त्रीको [साक्षात्] नरक समझता हूँ और इसे निश्चितरूपसे बन्धन मानता हूँ; क्योंकि स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मनुष्य उसीमें आसक्त हो जाता है और बार-बार उसीकी ओर दौड़ता है॥ १६॥

भगादिकुचपर्यन्तं संविद्धि नरकार्णवम्।
ये रमन्ति पुनस्तत्र तरन्ति नरकं कथम्॥ १७॥

योनिसे लेकर स्तनपर्यन्त स्त्रीको नरकका समुद्र समझो। जो लोग [उसीसे उत्पन्न होकर] पुनः उसीमें रमण करते हैं, वे नरकको किस प्रकार तर सकते हैं?॥ १७॥

विष्ठादिनरकं घोरं भगं च परिनिर्मितम्।
किमु पश्यसि रे चित्त कथं तत्रैव धावसि॥ १८॥

स्त्रीकी योनि विष्ठा आदिसे युक्त घोर नरकस्वरूप बनायी गयी है। हे चित्त! तुम उसे क्यों देखते हो और उसकी ओर क्यों दौड़ते हो?॥ १८॥

भगेन चर्मकुण्डेन दुर्गन्धेन व्रणेन च।
खण्डितं हि जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम्॥ १९॥

दुर्गन्धयुक्त तथा घावसदृश चर्मकुण्डरूप स्त्रीभगके द्वारा देवता, असुर तथा मानवसहित सम्पूर्ण जगत् विनाशको प्राप्त हुआ है॥ १९॥

देहार्णवे महाघोरे पूरितं चैव शोणितम्।
केनापि निर्मिता नारी भगं चैव अधोमुखम्॥ २०॥

नारीके महाभयंकर देहरूप समुद्रमें रक्त भरा हुआ है। भला किसने नारीकी रचना कर दी और उसकी योनिको अधोमुख बना दिया॥ २०॥

अन्तरे नरकं विद्धि कौटिल्यं बाह्यमण्डितम्।
ललितामिह पश्यन्ति महामन्त्रविरोधिनीम्॥ २१॥

स्त्रीके देहके भीतर नरक विद्यमान है—ऐसा जानो; जो कुटिलतासे युक्त है, किंतु बाहरसे शोभायुक्त लगता है। बुद्धिमान् (लोग) इस लोकमें स्त्रीको महामन्त्रस्वरूप वैराग्यका शत्रु समझते हैं॥ २१॥

अज्ञात्वा जीवितं लब्धं भवस्तत्रैव देहिनाम्।
अहो जातो रतस्तत्र अहो भवविडम्बना॥ २२॥

आत्माको न जान करके ही मनुष्यने पुनः जन्म प्राप्त किया; देहधारियोंका जन्म उसी स्त्रीसे हुआ। महान् आश्चर्य है कि वह पुनः उसीमें आसक्त हो गया; अहो, संसारकी ऐसी विडम्बना है॥ २२॥

तत्र मुग्धा रमन्ते च सदेवासुरमानवाः।
ते यान्ति नरकं घोरं सत्यमेव न संशयः॥ २३॥

देवता, असुर तथा मानवसमेत सभी मूढ़ बुद्धिवाले लोग उसी स्त्रीमें रमण करते हैं और [परिणामस्वरूप] वे घोर नरकमें जाते हैं, यह सत्य है; इसमें सन्देह नहीं है॥ २३॥

अग्निकुण्डसमा नारी घृतकुम्भसमो नरः।
संसर्गेण विलीयेत तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ २४॥

स्त्री अग्निके कुण्डके समान है और पुरुष घृतके कुम्भके समान है। नारीके सम्बन्धसे पुरुषका विलय हो जाता है; अतः उसका त्याग कर देना चाहिये॥ २४॥

गौडी पैष्टी तथा माध्वी विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
चतुर्थी स्त्री सुरा ज्ञेया ययेदं मोहितं जगत्॥ २५॥

गुड़, जौ तथा महुएकी बनी हुई तीन प्रकारकी मदिरा जाननी चाहिये; किंतु स्त्रीको चौथी मदिरा समझना चाहिये, जिसके द्वारा यह जगत् उन्मत्त कर दिया गया है॥ २५॥

मद्यपानं महापापं नारीसङ्गस्तथैव च।
तस्माद् द्वयं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेन्मुनिः॥ २६॥

मद्यका पान करना महान् पाप है, उसी तरह स्त्री-संसर्ग भी महान् पाप है। अतः इन दोनोंका त्याग करके मुनिको तत्त्वज्ञानसे युक्त होना चाहिये॥ २६॥

चिन्ताक्रान्तं धातुबद्धं शरीरं
नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम्।
तस्माच्चित्तं सर्वतो रक्षणीयं
स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सम्भवन्ति॥ २७॥

[रस, रक्त, मांस, मेद (चर्बी), हड्डी, मज्जा, शुक्र—इन] धातुओंसे बँधा हुआ शरीर भी चिन्ता करनेसे नष्ट हो जाता है; क्योंकि [चिन्ताके कारण] चित्तके नष्ट होनेपर सभी धातुएँ नाशको प्राप्त हो जाती हैं। अतः चित्तकी सब प्रकारसे रक्षा करनी चाहिये; स्वस्थ चित्तमें ही [उचित-अनुचितका विचार करनेवाली] विवेक बुद्धि उत्पन्न होती है॥ २७॥

दत्तात्रेयावधूतेन निर्मितानन्दरूपिणा।
ये पठन्ति च शृण्वन्ति तेषां नैव पुनर्भवः॥ २८॥

आनन्दस्वरूप अवधूत श्रीदत्तात्रेयजीने इस 'अवधूतगीता' की रचना की है। जो लोग इसको पढ़ते और सुनते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता है॥ २८॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां स्वामिकार्तिकसंवादे स्वात्मसंवित्त्युपदेशेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥